आचार्य माणिक्यनन्दि कृत

परीक्षामुख

संपादक–व्याख्याकार

डॉ. योगेशचन्द्र जैन

शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य (गोल्डमेडलिस्ट) एम.ए., पी.एचडी.

अलीगंज (एटा) उ.प्र.

प्राक्कथन

पण्डित नरेन्द्रकुमार भिसीकर

शास्त्री, महामहिमोपाध्याय

सोलापुर (महा.)

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

फोन : ०१४१–२७०७४५८, २७०५५८१

□□□□□□□ : □□□□□□□□□□□@□□□□□□.□□□

प्रथम दो संस्करण : ३ हजार २००
(अगस्त १९९१ से अद्यतन)
तृतीय संस्करण : १ हजार
(२५ दिसम्बर, २००९)
योग : **४ हजार २००**

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

विषय-अनुक्रमणिका

- प्रकाशकीय ३
- प्राक्कथन ४
- प्रस्तावना ५

१. प्रथम परिच्छेद ९
२. द्वितीय परिच्छेद २०
३. तृतीय परिच्छेद २७
४. चतुर्थ परिच्छेद ५८
५. पंचम परिच्छेद ६१
६. षष्ठ परिच्छेद ६२
७. परीक्षामुखसूत्रसूची ८१
८. परीक्षायां प्रष्टव्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नाः ८८

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

आचार्य माणिक्यनन्दिकृत 'परीक्षामुख' ग्रन्थ का तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

वर्तमान समय में जैन न्याय के प्रचार की महती आवश्यकता अनुभव की जा रही है। जैन न्याय के अभ्यास बिना अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का अवगाहन एवं प्रतिपादन एक दुरुह कार्य है। आचार्य श्री माणिक्यनन्दिकृत 'परीक्षामुख' जैन न्याय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अब तक इसकी सरल परन्तु विशद व्याख्या अनुपलब्ध होने के कारण जिज्ञासुओं को कठिनाई उपस्थित होती थी। हमारे श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय के मेधावी छात्र डॉ. योगेश जैन ने अथक परिश्रम द्वारा ग्रन्थ की व्याख्या कर सराहनीय कार्य किया है। डॉ. योगेशजी से समाज को काफी अपेक्षाएँ हैं।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रस्तुत व्याख्या को न्यायशास्त्र के प्रमुख विद्वान पं. नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर शास्त्री ने आद्योपांत पढ़ा है तथा जहाँ आवश्यक लगा, सुधार किया है। अपने प्राक्कथन में भिसीकरजी ने प्रस्तुत व्याख्या ग्रंथ की उपयोगिता के विषय में अपनी लेखनी से सब कुछ लिख दिया है, अतः इसकी गहराई में जाना यहाँ उपयुक्त नहीं है।

अनेक विश्वविद्यालय व परीक्षा बोर्ड के पाठ्यक्रमों में यह ग्रन्थ है, अतः इनका जो भी अध्ययन करते हैं, इस व्याख्या ग्रन्थ के प्रकाशित हो जाने से उन्हें तो मानो संजीवनी बूटी ही प्राप्त हो गई है।

ज्ञान स्व-पर को जानता है, वही प्रमाण है। इस तथ्य को बहुत ही अच्छे ढंग से प्रस्तुत ग्रन्थ में सिद्ध किया गया है। इस श्रम के लिए डॉ. योगेश जैन बधाई के पात्र हैं।

आकर्षक कलेवर में शीघ्र मुद्रण का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को जाता है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस अपूर्व ग्रन्थ का पठन-पाठन कर जैन न्याय को समझें व अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को प्राप्त करें ह्र इसी पवित्र भावना के साथ ह्र

ह्र **ब्र. यशपाल जैन,** एम.ए.
प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्राक्कथन

प्रस्तुत 'परीक्षामुख' नामक ग्रन्थ जैनन्यायदर्शन का सूत्ररूप से विवेचन करनेवाला 'गागर में सागर' समान अनुपम विशिष्ट ग्रन्थ है। इस सूत्रग्रन्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाले विशिष्ट टीकाग्रन्थों में सुलभता से प्रवेश पाने के लिए प्रस्तुत व्याख्या ग्रन्थ बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है।

आगम का यथार्थ ज्ञान होने के लिए कहाँ किस नय-विवक्षावश कथन किया है, इसका परिज्ञान होने के साथ जैनदर्शन के समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों को तर्कसम्मत प्रमाणित करने के लिए एवं उनको सरलता से समझने के लिए जैन न्याय का अभ्यास होना नितान्त आवश्यक है। जैन न्याय का उद्देश्य पर-मत का खण्डन प्रमुख नहीं, अपितु वस्तुस्वरूप का मण्डन करके आत्महित को आधार बनाकर अध्यात्म को पुष्टि प्रदान करना है। इसलिए इसके बिना तो जैन अध्यात्म को समझा ही नहीं जा सकता है।

'बिन जाने तैं दोष गुनन को कैसे तजिए-गहिए' इस उक्ति के अनुसार सदोष और निर्दोष कथन का यथार्थ ज्ञान हुए बिना आगम का यथार्थ परिज्ञान होना असंभव है। इसीलिए न्यायग्रन्थों का यथोचित परिचय करा देना, यही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। इस ग्रन्थ में प्रमाण-प्रमाणाभास, विषय-विषयाभास, हेतु-हेत्वाभास इत्यादि विषयों पर तत्त्व-दृष्टि से ऊहापोह किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का संपादन व व्याख्या करके डॉ. योगेशचन्द्र जैन ने आधुनिक नवयुवक विद्वानों के लिए एक आदर्श उपस्थित किया है। इसीप्रकार उत्तरोत्तर भविष्य-काल में भी दुष्गम न्याय का सरल-सुबोध भाषा में विस्तृत विवेचन कर जिनवाणी की सेवा करने की भावना सतत जाग्रत रखें ह्न ऐसी शुभ भावना के साथ अपने प्रिय शिष्य का अभीष्ट चिंतन करते हुए तथा इस ग्रन्थ का सभी यथोचित स्वाध्याय कर समीचीन वस्तुनिष्ठ तत्त्वज्ञान का आत्मलाभ करें ह्न ऐसी मंगल भावना के साथ ह्न

भवदीय

पण्डित नरेन्द्रकुमार भिसीकर, शास्त्री महामहिमोपाध्याय

जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (महा.)

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन विषयक साहित्य में 'परीक्षामुख' ग्रन्थ अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है। विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रमाण के स्वरूप, उसकी संख्या, विषय एवं फल को लेकर विवाद पाया जाता है। प्रासंगिक इन गुत्थियों को सुलझाने के उद्देश्य से जिज्ञासु जनों के लिए परीक्षामुख नामक ग्रन्थ की रचना की है।

परीक्षामुख जैन न्याय का प्रथम व प्रमुख सूत्र ग्रन्थ है। जैन सिद्धान्त साहित्य में जितना महत्त्वपूर्ण स्थान तत्त्वार्थसूत्र का है, जो कि जैन सिद्धान्त विषयक प्रथम सूत्रग्रन्थ है; वैसे ही 'परीक्षामुख' का आदरणीय रूप में स्थान सुरक्षित है।

'परीक्षामुख' में 'परीक्षा' शब्द 'परि उपसर्ग पूर्वक ईक्ष धातु से बना है। जिसका अर्थ है ह्न परि समन्तात् अर्थात् चारों ओर से या सभी पक्षों से ईक्ष देखना-जानना है। इस तरह परीक्षा शब्द का भाव हुआ कि किसी वस्तु को सभी पहलुओं से जानना-देखना।

प्रस्तुत प्रसंग 'दर्शन' का है और सभी भारतीय दर्शन का मुख्य लक्ष्य इस संसार के दु:खों से जीव को छुटकारा दिलाना है। इसी कारण दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य बिन्दु दुख, दुख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के उपायों की खोज करना रहा है। जिसप्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग का निदान, आरोग्य और औषधि इन चार तत्त्वों का प्रतिपादन आवश्यक है। उसीप्रकार दर्शन शास्त्र में उपर्युक्त बिन्दुओं को प्रकाशित करना अनिवार्य है। इसीलिए इस ग्रन्थ में प्रमाण और प्रमाणाभास पर विविध युक्तियों से प्रकाश डालकर उनकी सही परीक्षा की है, जिससे ग्रन्थ की सार्थकता स्वयंसिद्ध हुई है।

'मुख' शब्द अग्रणी वाचक है और इस रूप में यह ग्रन्थ भी प्रमाण और प्रमाणाभास को कहने में अग्रणी है। 'परीक्षा' का अर्थ न्याय भी है और मुख शब्द का अभिप्राय प्रवेश द्वार से है, यहाँ न्याय जैसे जटिल विषय में सरलता से प्रवेश पाने के लिए यह ग्रंथ द्वार जैसा ही कार्य करता है। अत: ग्रन्थ का 'परीक्षामुख' नाम स्वयं में पूर्ण व सार्थक है।

जैन न्याय को सूत्रबद्ध करनेवाला यह ग्रन्थ विक्रम की दशमी शताब्दी तक उपलब्ध नहीं था; जबकि बौद्धदर्शन में हेतुमुख, न्यायमुख जैसे न्याय ग्रन्थ पाये

जाते थे। आचार्य माणिक्यनन्दि ने अपने सूत्रग्रन्थ का नाम मुखान्त रूप में रखकर पूर्व के ग्रन्थों का नामानुकरण करते हुए जैन न्याय को सूत्रबद्ध ही नहीं किया, अपितु एक आदर्श भी प्रस्तुत करके उत्तरकालीन आचार्यों में हेमचन्द्राचार्य की प्रमाणमीमांसा एवं वादिदेवसूरि के प्रमाणतत्त्वालोक पर अमिट उल्लेखनीय छाप भी छोड़ी है।

तीर्थंकर की माँ जैसे एक प्रसवा होती है, वह मात्र एक संतान को जन्म देती है। वैसे ही लगता है कि जैन सूत्रकार भी एक प्रसवा होते हैं। यह एक कैसा विचित्र संयोग है कि जैनदर्शन में संस्कृत भाषा के आद्य सूत्रकार आचार्य श्री उमास्वामी की तत्त्वार्थसूत्र उनकी अपनी इकलौती रचना है, जिसने उनकी कीर्ति को सुरक्षित रखा तथा जो जैन सिद्धान्त का पूर्णत: नेतृत्व करती है। उसी तरह आचार्य माणिक्यनन्दि की उनकी अपनी इकलौती कृति परीक्षामुख जैन न्याय जगत का पूर्णत: प्रतिनिधित्व करती है; क्योंकि परीक्षामुख का उद्‌गम अकलंक के लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों के आधार से हुआ है। अकलंक की स्थापनाएँ ही माणिक्यनन्दि के सूत्रों की शोभा हैं और शायद इसीलिए उनके टीकाकार अनन्तवीर्य उचित ही कहते हैं कि ह्न

अकलंक वचोऽम्भोधेरुदध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने।।[१]

अर्थात् जिस बुद्धिमान ने अकलंक के वचनरूपी सागर का मन्थन करके न्यायविद्या रूपी अमृत को निकाला उस माणिक्यनन्दि को मेरा नमस्कार हो।

इस तरह अकलंक के साहित्य सागर का मन्थन और उससे प्राप्त अमृत का पान करके 'परीक्षामुख' कृति के रूप में तो वे अमर हो गये, परन्तु हम उनके व्यक्तिगत व्यक्तित्व के संबंध में विस्तृततया अभी तक अनजान रहे हैं। तदपि जो कुछ जानकारी उपलब्ध है, उसके अनुसार वे नन्दिसंघ के आचार्य थे। धारानगरी का क्षेत्र इनकी भ्रामरीवृत्ति से सुशोभित होता रहा है। शिमोगा जिले के तालुके नगर में ६ नं. के शिलालेख में इनको **जिनराज** जैसे अति आदरणीय सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया है। आचार्य धर्मभूषण यति तो इनसे प्रभावित होकर **भगवान** तक कह बैठे हैं।

१. प्रमेयरत्नमाला, श्लोक २

परीक्षामुख के दूसरे टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि को अपना साक्षात् गुरु मानते हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा है कि ह्न

गुरु: श्रीनन्दिमाणिक्यो नंदिताशेषसज्जन:।
नन्दिताद्दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णव।।[१]

माणिक्यनन्दि के कालनिर्धारण में अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला का यह श्लोक 'अकलंकवचोऽम्भोधे...' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो यह तो सिद्ध कर ही देता है, कि अकंलक पूर्ववर्ती हैं; विद्वानों ने अकलंक का समय ७२० से ७८० ई. सिद्ध किया है। इस तरह माणिक्यनन्दि ८वीं सदी के उत्तरकाल में सिद्ध होते हैं। तत्पश्चात् आचार्य नयनन्दि के सुदर्शनचरित जो कि वि.सं. ११०० में धारानरेश भोजदेव के समय पूर्ण हुआ। इसमें इन्होंने माणिक्यनन्दि को अपना गुरु माना है।

परीक्षामुख के वृहद्‌टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य का समय पं. श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पं. श्री कैलाशचन्दजी शास्त्री, मुख्तार साहब व नाथूरामजी प्रेमी आदि ने सन् ९८०-१०६५ के मध्य माना है और प्रभाचन्द्र ने अपने को 'माणिक्यनन्दि के पद में रत' (प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रशस्ति श्लोक-४) कहा है तथा यदि गुरु व शिष्य में लगभग २० वर्ष के अन्तर को मानकर चलें तो माणिक्यनन्दि का काल ९६० से १००० ईसवी सन् के मध्य निश्चित किया जा सकता है।

'सुदर्शन चरित' की प्रशस्ति के अनुसार महातपस्वी रामनन्दी के शिष्य महापण्डित माणिक्यनन्दि थे। इसके अतिरिक्त जैन शिलालेख संग्रह भाग १, पृष्ठ ४२ पर, अभिलेख संख्या ४८२ की नयकीर्ति पट्टावली जो शक संवत् १०९९ की है, इसके अनुसार नयकीर्ति गुणचन्द्र मुनि के शिष्य थे और उनके सधर्मा गुणचन्द्र मुनि के पुत्र माणिक्यनन्दि थे, उनकी शिष्य मण्डली में मेघचन्द्र, व्रतीन्द्र, मलधारिस्वामी, श्रीधरदेव, दामनन्दि, भानुकीर्ति, बालचन्द्रमुनि, माघनन्दि, प्रभाचन्द्रमुनि, पद्मनन्दि, नेमिचन्द्र आदि थे।

परीक्षामुख की समय-समय पर कई टीकाएँ लिखी गईं हैं, परन्तु उसमें प्रमुख रूप से तीन टीकाएँ हैं ह्न (१) प्रभाचन्द्र देव की प्रमेयकमलमार्तण्ड

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रशस्ति, श्लोक-३

(२) अनन्तवीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला तथा (३) भट्टारक चारुकीर्ति की प्रमेयरत्नालंकार है। इसके अलावा 'प्रमेयकण्ठिका' नामक टीका भी प्राप्त होती है, परन्तु यह प्रथमसूत्र की विस्तृत व्याख्यामात्र है, व्याख्याकार श्री शान्तिवर्णी हैं। इसके अतिरिक्त प्रमेयरत्नमाला को हिन्दी वचनिका के रूप में प्रचारित करनेवाले पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा की देशभाषामय वचनिका उपलब्ध है। अभी इस सदी में परीक्षामुख पर जनसामान्य में प्रवचन करके प्रसारित करनेवाले क्षु. श्री मनोहरलाल जी वर्णी (सहजानन्दी) मुख्य हैं, जिनके परीक्षामुख पर किये गये प्रवचन कई भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। पं. श्री मोहनलालजी शास्त्री कृत टीका का भी एक छात्रोपयोगी संस्करण प्रचलित है।

इस तरह से समय-समय पर परीक्षामुख जनसामान्य में भी उपयोगी रहा है, क्योंकि इसके बिना तो प्रमाण-नय का ज्ञान नहीं हो सकता है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के जैनदर्शन के शास्त्री पाठ्यक्रम में यह समायोजित है, इससे भी इसकी उपयोगिता सिद्ध है। अभी कुछ वर्षों से जन सामान्य में इस ग्रन्थराज के अध्ययन की तीव्र जिज्ञासा देखी जा रही थी, परन्तु स्वाध्यायप्रेमियों को भी ध्यान में रखकर लिखी गयी व्याख्या का अभाव था। या तो अतिविस्तृत टीकाएं उपलब्ध थी या अति संक्षिप्त। अत: मैंने बड़े-बड़े टीका ग्रन्थों के मुख्य तर्कों को लेकर संक्षिप्त परन्तु सरल तरीके से हिन्दी भाषा में संजोया है और महत्त्वपूर्ण प्रकरणों का विस्तार भी किया है। इसतरह से मेरा तो इसमें कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण रूप से पूर्वाचार्यों की वाणी का सार-संक्षेप मात्र किया है। अत: इस कार्य में कहीं चूक गया होऊँ, तो सुधी पाठक ध्यानाकर्षित कराने की कृपा करेंगे।

परीक्षामुख पर व्याख्या करने के पश्चात् कराने वाले हमें जैनन्याय का अध्ययन अपने गुरुवर आदरणीय श्री नरेन्द्रकुमार जी भिसीकर शास्त्री, महामहिमोपाध्याय, सोलापुर के पास भेजा; जिन्होंने इस व्याख्या कार्य को सूक्ष्मता से देखा, एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं। माणिक्यनन्दि के कालनिर्धारण व विभिन्न स्थलों पर पण्डित श्री हीरालालजी शास्त्री, श्री उदयचन्द्रजी जैन व आर्यिका जिनमतीजी के लेखन कार्य का सहयोग लिया है, अत: हम उनके भी आभारी हैं। साथ ही जिन लोगों ने प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग दिया है, उनके प्रति आभार के साथ ह्व

ह्व डॉ. योगेश चन्द्र जैन

अनेकान्त फार्मा. अलीगंज (एटा) उ.प्र.

परीक्षामुख

प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण ह्व

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपयर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः।।

श्लोकार्थ ह्व प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से विपर्यय अर्थात् अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। अत: उन दोनों प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण जो पूर्वाचार्यों द्वारा कथित है, उसे अल्पबुद्धिवालों के लिए कहूँगा।

व्याख्या ह्व ''प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते'' अर्थात् प्रयोजन के बिना तो मन्दबुद्धिवाला भी किसी कार्य में प्रवर्तित नहीं होता है। इसी कारण आचार्य माणिक्यनन्दी ने ग्रन्थ रचना का सर्वप्रथम प्रयोजन बतलाया है; क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन जानकर व उसके फल प्राप्ति की आशा से ही विद्वद्गण उस कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

संसार के सभी जीवों की सभी कार्यों में प्रवृत्ति का मूल प्रयोजन व उसका फल तो सुख की प्राप्ति व दु:ख के परिहार में निहित है। प्रयोजन दो प्रकार का होता है ह्व साक्षात् प्रयोजन व परम्परा प्रयोजन। 'प्रमाण' से अर्थ की सिद्धि को परम्पराफल व साक्षात्फल को 'वक्ष्ये' शब्द से कहकर प्रमाण व प्रमाणाभास में निपुणता होकर अज्ञाननिवृत्ति बतलाया है।

'प्रमाणादर्थसंसिद्धि:' के प्रमाणात् पद से सूत्रकार ने एकवचन का निर्देश दिया है, उससे सामान्य व विशेष लक्षणों का अन्तर्भाव समझना चाहिए तथा प्रमाण पद कर्तृ, करण व भाव साधन में प्रयुक्त है; कारण कि

द्रव्य और पर्यायें दोनों परस्पर कथंचित् भेदाभेदात्मक होते हैं। व्याकरण की निरुक्तियों के आधार पर प्रमाण शब्द का अर्थ होता है कि 'प्रमिमीते' अर्थात् जानाति इति प्रमाणं अर्थात् अपने और पर के ग्रहण करने में परिणत हुआ जो जीव है, वही प्रमाण शब्द का सारांशरूप है। जो अपनी आत्मा को जानता है वही प्रमाण है, उससे ही अर्थ की सिद्धि होती है। प्रयोजनवाले व्यक्ति जिसे चाहते हैं, उसे अर्थ कहते हैं, वह उपादेय व हेय रूप दो प्रकार का होता है। पदार्थज्ञान होना इसका नाम सिद्धि है। प्रयोजन की सच्ची सिद्धि को 'अर्थसंसिद्धि' कहते हैं।

'तदाभासात् विपर्ययः' अर्थात् स्व-पर प्रमेय का स्वरूप प्रतिभासित करनेवाले प्रमाण के समान जो मालूम पड़े, वह तदाभास कहलाता है। वह तदाभास अर्थात् प्रमाणाभास अनेक प्रकार का होता है। इन प्रमाणाभासों से स्वर्ग-मोक्ष का विपरीत ज्ञान ही होता है, तथा इस लोक में भी सुख-दुःख के साधनभूत पदार्थों का सत्यज्ञान-प्राप्ति आदि रूप सिद्धियाँ नहीं होती हैं।

श्लोक में प्रमाणपद पहले ग्रहण हुआ है, क्योंकि वह मुख्य है, सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण होने से सभी पुरुषार्थों में उपयोगी है। जिसका विवेचन ग्रन्थकार का मूल उद्देश्य है। साथ ही प्रमाण और अप्रमाण का विवेक भेद भी प्रमाण ज्ञान से ही होता है, तदाभास से मोक्ष-साधन का ज्ञान इत्यादि रूप कार्य नहीं होता है, अतः वह गौण है।

'इति' अव्यय पद हेतु अर्थ में प्रयोग किया है। पुरुषार्थ की सिद्धि और असिद्धि में कारण होना यह 'इति' शब्द का भाव है।

प्रमाण का लक्षण ह्न

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।।१।।

सूत्रार्थ ह्न 'स्व' अर्थात् अपने आपको और 'अपूर्वार्थ' अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है, ऐसे पदार्थ का निश्चय करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

व्याख्या ह्न यहाँ प्रमाण के लक्षण में पाँच विशेषण देकर लक्षण के तीन दोषों से रहित अन्यमतों के लक्षण का निरसन करते हुए प्रमाण का

सामान्य स्वरूप प्रस्तुत किया है। प्रमाण के पाँच विशेषणों का सकारण वैशिष्ट्य प्रस्तुत है।

प्रमाण का मूल आधार तो ज्ञान ही है; अतः प्रमाण के साथ ज्ञान को रखा है। ज्ञान का प्रयत्न कैसा हो ? यह बतलाने के लिए ज्ञान के पहले 'व्यवसायात्मकं' पद रखा है। ज्ञान के प्रयत्न का विषय कहीं कल्पनालोक न बन सके, वस्तु-जगत रहे, इसके लिए व्यवसाय के पूर्व 'अर्थ' पद दिया है। ज्ञान का विषय वस्तु-जगत होने पर भी कहीं उसमें पिष्टपेषण न होता रहे, अतः इस दोष से बचने के लिए 'अपूर्व' शब्द रखा है। बाह्य वस्तु-जगत की खोज में स्वयं ही न खो जावे। बाह्य जानकारी के मोह में कहीं स्वयं से ही अजान न रह जावे। 'स्व' भी एक वस्तु है। अतः सर्वप्रथम उसका भी ज्ञान होना आवश्यक है, इसीलिए सूत्र के आदि में ही 'स्व' पद रखा है। जैनदर्शन में इस पद का अत्यधिक महत्त्व है। इसके ज्ञान बिना उत्पन्न हुआ ज्ञान 'प्रमाण' की कोटि में ही नहीं है। अतः 'स्व' शब्द सूत्र का सिरमौर है।

इसतरह सूत्र का प्रत्येक शब्द सार्थक व परमत का खण्डन करने में सक्षम है। इसमें ज्ञान पद तो नैयायिकों के सन्निकर्ष व वैशेषिकों के कारक-साकल्यवाद का खण्डन करता है। 'व्यवसायात्मक' बौद्धों के निर्विकल्पवाद का तथा 'अर्थ' पद विज्ञानाद्वैतवाद चित्राद्वैतवाद का 'अपूर्व' पद धारावाहिक ज्ञान का तथा 'स्व' पद से ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने वाले मीमांसक तथा अन्य ज्ञान से उसे ग्राहक माननेवाले नैयायिकों के कारकसाकल्य व वैशेषिकों के सन्निकर्षवाद का खण्डन करके प्रत्येक पद स्वतः सक्षम सिद्ध होता है।

अब क्रमागत विशेषणों का विवेचन सूत्रकार विस्तार से दे रहे हैं ह्न

प्रमाण-लक्षण में ज्ञान विशेषण की सार्थकता ह्न

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।।२।।

सूत्रार्थ ह्न हित (सुख) की प्राप्ति और अहित (दुख) के परिहार में समर्थ प्रमाण है। वह प्रमाण स्वरूप से स्वीकार्य वस्तु ज्ञान ही होने के योग्य है, अज्ञान रूप सन्निकर्षादिक नहीं है।

व्याख्या ह्न सुख और सुख के साधनों को हित कहते हैं, दुख और दुख के साधनों को अहित कहते हैं। सूत्र में 'प्राप्ति' का अर्थ अर्थप्रापक नहीं, अपितु पदार्थ के गुण-दोषों को प्रदर्शित करना ही ज्ञान की प्रापकता है, क्योंकि पदार्थ में प्रवृत्त होनेरूप चारित्र तो ज्ञान के आधीन नहीं, वह तो पुरुष की इच्छा (आत्मा के चारित्र) व योग्यता के आधीन है, जैसे दीपक अर्थप्रकाशक है, परन्तु अर्थ-प्रापक नहीं। यदि ज्ञान पदार्थों में प्रवृत्ति या निवृत्ति कराता होता तो जगत् में विषभक्षण या पंचपापों में प्रवृत्ति आदि होती ही नहीं; क्योंकि इनसे हानि का ज्ञान तो जगप्रसिद्ध है। अत: अर्थक्रिया में समर्थ ऐसे पदार्थ को बतलाना ही प्रमाण की हित प्रापकता है। अहित-परिहार भी अनिष्टकारी पदार्थ को दिखा देना ही है। इसतरह पदार्थ का जैसा का तैसा प्रकाशित होना जिसके द्वारा होवे वह प्रमाण है और वह ज्ञानरूप ही है। अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि इसप्रकार के प्राप्ति-परिहार कराने में समर्थ नहीं हैं, यदि वे ऐसे होते तो जगत में ज्ञान की कल्पना ही नहीं होती।

प्रमाण का निश्चायकपना ह्न

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।।३।।

सूत्रार्थ ह्न वह प्रमाण पदार्थ का निश्चयात्मक है, समारोप (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) का विरोधी होने से, अनुमान की तरह।

व्याख्या ह्न प्रमाण के लक्षण में 'व्यवसायात्मक' विशेषण बौद्धों की निर्विकल्प मान्यता के खण्डन के लिए दिया है। ज्ञान का व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयपना तो विपरीत ज्ञान में भी होता है; परन्तु वह साध्य अर्थ का निश्चायक नहीं होता है, अत: वह समारोप का विरोधी नहीं है। इसी कारण प्रस्तुत सूत्र में निश्चयात्मक के साथ 'समारोपविरुद्धत्वात्' शब्द डाला है। जिसका अर्थ है कि वह निश्चायक इस कारण है, क्योंकि उसका मिथ्याज्ञानरूप संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय से सहावस्थान लक्षणरूप विरोध है। जहाँ वस्तु का यथार्थ निश्चय हो, वहाँ संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप समारोप का रहना ही सम्भव नहीं है। जैसे कि बौद्ध 'अनुमान' प्रमाण को समारोप का विरोधी होने से निश्चयात्मक प्रमाण मानते हैं, उसीतरह प्रमाण भी समारोप का विरोधी होने से निश्चयात्मक है।

अपूर्वार्थ का लक्षण ह्न

अनिश्चितोऽपूर्वार्थ: ।।४।।

सूत्रार्थ ह्न जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय न किया गया हो, वह अपूर्वार्थ कहलाता है।

व्याख्या ह्न धारावाहिक ज्ञान चूंकि एक ही वस्तु को विषय बनाता रहता है, अतः वह अप्रमाण है। प्रमाण की प्रमाणता तो तभी कहलायेगी कि, जब वह किसी भी प्रमाण के द्वारा न जानी गयी वस्तु को विषय बनाता हो।

यदि यह कहा जावे कि प्रत्यक्षादि के द्वारा जाने विषय में अनुमानादि प्रमाणों के प्रवृत्त होने पर वे अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि उनका विषय अपूर्वार्थ नहीं रहा। इस शंका का समाधान है कि प्रथम प्रमाण से ज्ञात पदार्थ में यदि विशेषता सहित अन्य ज्ञान प्रवृत्त होता है तो उसके लिए वह अपूर्वार्थ है। जैसे प्रथम प्रमाण ने जाना कि यह 'वृक्ष' है, तो दूसरे प्रमाण ने उसे 'आम का वृक्ष' ऐसा विशेष रूप से जाना तो वह ज्ञान प्रमाण ही है। स्वरूप से अथवा विशेषरूप से जो निश्चित नहीं है, वह सम्पूर्ण पदार्थ अपूर्वार्थ है।

अपूर्वार्थ का दूसरा लक्षण ह्न

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।।५।।

सूत्रार्थ ह्न पूर्व में देखे हुए पदार्थ में भी यदि समारोप अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आ जाता है तो वह पदार्थ भी अपूर्वार्थ बन जाता है। (जैसे पढ़ी हुई पुस्तक अनभ्यास से पुन: अपठित जैसी हो जाती है।)

व्याख्या ह्न मीमांसा दर्शन में प्रभाकर मतवाले सर्वथा अपूर्व अर्थ को ही प्रमाण का विषय मानते हैं। उनका खण्डन इस सूत्र में किया है। जैन-दर्शन के प्रमाण विषय में कथंचित् अपूर्वार्थता स्वीकृत है। इसी कारण

व्याप्ति ज्ञान में ही प्रवृत्त अनुमान ज्ञान की भी प्रमाणता बन जाती है। ऐसे ही पूर्वार्थग्राही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि परोक्षप्रमाणों में प्रमाणता संभव है। दूसरी तरफ सर्वथा अपूर्वार्थग्राही मानने पर द्विचन्द्रादि का ज्ञान भी सत्य हो जायेगा, क्योंकि एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान तो अपूर्व विषयवाला है।

यदि कहा जावे कि केवलज्ञानी के ज्ञान ने तो त्रिकालवर्ती द्रव्य-गुण-पर्यायों को जब एक समय में ही विषय बना लिया, तो उत्तरवर्ती ज्ञान ग्रहीतग्राही हुआ ? प्रथमपल में जिन पर्यायों को वर्तमानवत् और भविष्य को भविष्यवत् जान रहा था, उत्तरकाल में उत्तरवर्ती को वर्तमानवत् व पूर्ववर्ती वर्तमान को भूतकाल रूप में जान रहा है। अत: वह ज्ञान ग्रहीत-ग्राही नहीं है। वस्तु के परिणमन भेद से ज्ञान में भी प्रमेयभेद हो गया है। इस कारण केवलज्ञान ग्रहीतग्राही नहीं है।

वस्तु में सामान्य-विशेषात्मक अनेक धर्म होते हैं, उनमें किसी गुण या धर्म का किसी प्रमाण से निश्चय होने पर भी दूसरे गुण या उसकी दूसरी पर्याय की अपेक्षा वह वस्तु दूसरे प्रमाण के लिए अपूर्वार्थ हो जाती है।

स्वव्यवसाय का स्वरूप ह्न

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसाय: ।।६।।

सूत्रार्थ ह्न स्वयं की तरफ सन्मुख होने से जो अनुभवन होता है, वही स्व-व्यवसाय कहलाता है।

व्याख्या ह्न प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया जो ज्ञान है, उसके द्वारा अपना व्यवसाय अर्थात् निश्चय करना यह ज्ञान का अपना निश्चय कहलाता है। सूत्रकार इस 'स्व' व्यवसाय विशेषण को प्रतिवादी तथा वादी द्वारा मान्य अर्थव्यवसाय रूप दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं ह्न

स्वव्यवसाय का दृष्टान्त ह्न

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।।७।।

सूत्रार्थ ह्न जिसप्रकार पदार्थ के प्रति सन्मुख होने से पदार्थ का निश्चय होता है अर्थात् ज्ञान होता है, उसीप्रकार स्व की ओर उन्मुख होने पर स्व का निश्चय होता है।

व्याख्या ह्न नैयायिकादि ज्ञान को स्वयं का जाननेवाला नहीं मानते हैं। उनकी मान्यता का खण्डन करने के लिए उपयुक्त दो सूत्र लिखे हैं। ज्ञान स्व-परप्रकाशक है, वह मात्र पर-वस्तु को ही नहीं जानता है, अपितु स्वयं को भी जानता है। यदि ज्ञान स्व को नहीं जानेगा तो उसको जानने के लिए दूसरे ज्ञान की तथा दूसरे ज्ञान के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। इस तरह अनवस्था दोष व सर्वज्ञता का भी अभाव हो जायेगा। जब तक ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तक उस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं। इसी तथ्य को उदाहरण द्वारा आगे स्पष्ट करते हैं।

पदार्थ को जानते समय ज्ञान में प्रतीति ह्न

घटमहमात्मना वेद्मि ।।८।।

कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीते: ।।९।।

सूत्रार्थ ह्न घट को मैं (आत्मा) अपने (ज्ञान) द्वारा जानता हूँ। यहाँ जैसे 'घट' पदार्थ रूप कर्म का प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही कर्ता-आत्मा, करण-ज्ञान और जानने रूप क्रिया इन तीनों का प्रतीतिरूप प्रत्यक्ष होता है।

व्याख्या ह्न मीमांसक ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानते हैं, उनके अनुसार ज्ञान के द्वारा घटादि वस्तु तो जानी जाती है, किन्तु वह स्वयं नहीं जाना जाता। यदि ज्ञान को प्रत्यक्ष होना माना जाए तो वह कर्मरूप बन जायेगा जैसे पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि वे कर्मरूप होते हैं। इस तरह ज्ञान भी कर्मरूप होकर तीसरे ज्ञान रूप करण की आवश्यकता महसूस करेगा। जैनदर्शन ज्ञान को कर्मरूप और करणरूप दोनों मानता है सो यह उचित नहीं, क्योंकि एक ही ज्ञान परस्पर विरुद्ध दो धर्मरूप नहीं हो सकता है।

मीमांसकों की उपर्युक्त मान्यता के निराकरण के लिए ही सूत्रकार ने उपर्युक्त दो सूत्रों की रचना की है।

मीमांसक कर्तारूप आत्मा की प्रतीति तो प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु वे यदि भावमन और भावेन्द्रिय को परोक्ष मानना चाहते हैं तो इसमें जैनों को कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि हम छद्‌मस्थों को इनका प्रत्यक्ष नहीं होता,

परन्तु जो उपयोगलक्षण वाला भावकरण है, वह स्व-पर को ग्रहण करने के व्यापार रूप होता है, इसीलिए वह स्वयं को प्रत्यक्ष होता रहता है। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि 'प्रत्यक्षता' धर्म किसका है ? वास्तव में प्रत्यक्षता पदार्थ का धर्म नहीं है, जो पदार्थ का धर्म होता है, वह पदार्थ के स्थान पर ही प्रतीत होता है। प्रत्यक्षता घट-पट आदि पदार्थों का धर्म नहीं, क्योंकि नील आदि धर्म के समान उसी पदार्थ के स्थान पर अन्य समय में भासित नहीं होती। प्रत्यक्षता तो ज्ञान के समय ही और आत्मा में ही प्रतीत होती है। अपनी प्रत्यक्षता अन्य किसी भी पुरुष को प्रतीत नहीं हो सकती। अत: प्रत्यक्षता ज्ञान का ही धर्म है। ज्ञान भी जब तक अपने आपको प्रत्यक्ष नहीं करेगा, तब तक वह पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। ज्ञान अपने को प्रत्यक्ष करने पर ही उसमें अविरोध रूप कर्मपना भी घट जाता है और इस तरह प्रभाकर की इस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है कि ''आत्मा अप्रत्यक्ष: कर्मत्वेनाप्रतीय-मानत्वात् करणज्ञानवत्।''

अथानन्तर यह बात भी तो विचारणीय है कि जब मीमांसक आत्मा रूप कर्ता को प्रत्यक्ष मानते हैं तो करण रूप ज्ञान ने ऐसा क्या अपराध किया है कि उसे परोक्ष मान रहे हैं। अत: आत्मा को प्रत्यक्ष मानने पर उससे ही अभिन्न करणरूप ज्ञान भी स्वत: प्रत्यक्ष हो जायेगा और क्रिया की तो प्रत्यक्षता स्वीकार करना ही चाहिए।

यहाँ यदि यह कहा जावे कि ''मैं अपने द्वारा घड़े को जानता हूँ'' इस प्रकार से विवेचन तो शाब्दिक है, अनुभवगम्य नहीं, क्योंकि ऐसे विवेचन को ही अनुभव स्वरूप माना जाये तो अंगुली के अग्रभाग पर सैकड़ों हाथियों का समूह है' यह कथन भी अनुभव स्वरूप मानना पड़ेगा। इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं कि ह्न

शब्दोच्चारण बिना ही स्वव्यवसायकता ह्न

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।।१०।।

सूत्रार्थ ह्न शब्दों का उच्चारण किये बिना भी अपना अनुभव होता है। जैसे पदार्थों का घट आदि रूप वचन बोले बिना भी उसका ज्ञान होता है।

व्याख्या ह्न आत्मा व ज्ञान आदि का प्रतिभास उस-उस आत्मा आदि शब्दों के उच्चारण बिना भी होता है। अत: आत्मा व ज्ञानादि का विवेचन मात्र शाब्दिक नहीं है। आत्मा आदि का उच्चारण जो मुख से करते हैं, वह तो स्वयं को प्रतिभासित हुए स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए करते हैं। जैसे, घट आदि नामों का उच्चारण बिना घट आदि पदार्थों के प्रतिभास हुए नहीं होता। अत: आत्मा व ज्ञानादिक का प्रतिभास भी निरालम्ब रूप नहीं, अपितु यथार्थ ही समझना चाहिए।

स्वप्रतीति की पुष्टि व उदाहरण ह्न

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ।।११।।

प्रदीपवत् ।।१२।।

सूत्रार्थ ह्न ऐसा कौन (लौकिक या परीक्षक) पुरुष है जो ज्ञान के द्वारा अनुभव हुए पदार्थ को तो प्रत्यक्ष माने और उस ज्ञान को ही प्रत्यक्ष न माने अर्थात् उसे अवश्य ही ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना चाहिए।

इसके लिए 'प्रदीपवत्' अर्थात् 'दीपक की तरह' का उदाहरण दिया है। जैसे दीपक में 'स्व' की प्रकाशकता या प्रत्यक्षता को स्वीकारे बिना उसके द्वारा प्रकाशित किये गये पदार्थों में प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं होती है।

प्रमाण के प्रामाण्य का निर्णय ह्न

तत्प्रामाण्यं स्वत: परश्च ।।१३।।

सूत्रार्थ ह्न उस प्रमाण की प्रामाणिकता कहीं स्वत: होती है और कहीं पर से भी होती है।

व्याख्या ह्न जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध में निर्दोषता का निर्णय ही प्रमाण का प्रामाण्य है। जैनदर्शन में प्रमाण के प्रामाण्य की उत्पत्ति (ज्ञान की सत्यता) तो पर से ही मानी है। उत्पत्ति में पर से प्रमाणता कहने का

भाव यह है कि अंतरंग कारण ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और बाह्य इन्द्रियादिक के निर्दोष होने पर ही नवीन प्रमाणतारूप कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं; क्योंकि विशिष्ट कार्य तो विशेष कारण से ही पैदा होता है। विषय को जाननेरूप व विषय में प्रवृत्ति रूप प्रमाण के कार्य में अभ्यास दशा की अपेक्षा तो प्रमाण की प्रमाणता स्वत: बाह्य कारणों के बिना होती है और अनभ्यासदशा में परत: अर्थात् बाह्यकारणों के मिलने पर ही होती है।

पूर्व में जानी हुयी परिचित अवस्था को अभ्यास दशा और अपरिचित अवस्था को अनभ्यास दशा कहते हैं। अपने गाँव के परिचित तालाब, नदी आदि की ओर जाने पर जो जलज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी प्रमाणता स्वत: होती है; किन्तु अन्य अपरिचित ग्रामादिक में जाने पर ''यहाँ जल होना चाहिए'' इसप्रकार जो जलज्ञान होगा, वह शीतल वायु के स्पर्श से, हवा में कमलों की सुगन्धि से अथवा पानी भरकर आते हुए व्यक्तियों के देखने आदि के निमित्त से प्रमाणित होगा। अत: उस जलज्ञान की प्रमाणता अनभ्यास दशा होने से परत: मानी जायेगी।

इति प्रथम परिच्छेद।

न्यायशास्त्र की उपयोगिता

व्याकरण-न्यायादिक शास्त्र हैं, उनका थोड़ा-बहुत अभ्यास करना; क्योंकि उनके ज्ञान बिना बड़े शास्त्रों का अर्थ भासित नहीं होता। तथा वस्तु का स्वरूप भी इनकी पद्धति जानने पर जैसा भासित होता है वैसा भाषादिक द्वारा भासित नहीं होता; इसलिये परम्परा कार्यकारी जानकर इनका भी अभ्यास करना; परन्तु इन्हीं में फँस नहीं जाना। इनका कुछ अभ्यास करके प्रयोजनभूत शास्त्रों के अभ्यास में प्रवर्त्तना।

द्वितीय परिच्छेद

प्रमाण के भेद ह्न

तद्द्वेधा ।।१।।

सूत्रार्थ ह्न वह प्रमाण दो प्रकार का है।

व्याख्या ह्न प्रमाण के समस्त भेदों का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु प्रमाण के दो भेद प्रत्यक्ष और अनुमान भी हैं, ऐसी बौद्ध मान्यता के निरसन के लिए समस्त भेदों का संग्रह करनेवाली संख्या को अगले सूत्र से स्पष्ट करते हैं।

भेदों का स्पष्टीकरण ह्न

प्रत्यक्षेतरभेदात् ।।२।।

सूत्रार्थ ह्न प्रत्यक्ष और इतर अर्थात् परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का होता है।

व्याख्या ह्न यहाँ परोक्ष प्रमाण कहकर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम प्रमाणों का अन्तर्भाव कर लिया है; जिनका प्रसंगानुसार विवेचन सूत्रकार ने तीसरे परिच्छेद में आगे किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप ह्न

विशदं प्रत्यक्षम् ।।३।।

सूत्रार्थ ह्न विशद अर्थात् निर्मल और स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

व्याख्या ह्न यहाँ सूत्र में 'विशद' शब्द बौद्धों द्वारा अस्पष्ट व अविशद ज्ञान को भी प्रत्यक्ष की मान्यता के निषेध के लिए है। सूत्र में 'ज्ञानपद' की अनुवृत्ति होगी। कहीं इन्द्रियों की निर्दोषता या प्रकाश भी विशदता का हेतु न बन जावे, इसके निषेध के लिए ज्ञानपद की अनुवृत्ति करके 'विशदज्ञान' पद बनेगा।

यहाँ अनुमान प्रयोग में 'प्रत्यक्ष' यह धर्मी का निर्देश है अर्थात् पक्ष है। ज्ञान की विशदता साध्य है और प्रत्यक्षपना हेतु है। जो विशदज्ञानात्मक

नहीं, वह प्रत्यक्ष नहीं जैसे परोक्ष ज्ञान। चूँकि विवादापन्न प्रत्यक्ष है, इसलिए वह विशद ज्ञानात्मक है। इसप्रकार अनुमान के पंच अवयव-प्रयोगरूप यह सूत्र है।

ज्ञान की 'विशदता' से क्या अभिप्राय है ? इसको अब सूत्रकार स्वयं स्पष्ट करते हैं।

वैशद्य का स्वरूप ह्न

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।।४।।

सूत्रार्थ ह्न दूसरे ज्ञान के व्यवधान से रहित और विशेषता से होनेवाले प्रतिभास को वैशद्य कहा जाता है।

व्याख्या ह्न सूत्र में 'प्रतीत्यन्तर-अव्यवधान' से अभिप्राय तुल्य जातीय की अपेक्षा से व्यवधान का निषेध करने के लिए है, देश-काल आदि की अपेक्षा से नहीं। जैसे ऊपर-ऊपर पटल देश (क्षेत्र) के व्यवधान से तो स्थित हैं, किन्तु तुल्य जातीय (बीच में अन्य किसी रचना का होना) अन्य पटलों की अपेक्षा से अन्तरित नहीं हैं। इसी तरह जिस ज्ञान में अन्य तुल्यजातीय ज्ञान का व्यवधान नहीं है ह्न ऐसे दूसरे ज्ञान की सहायता बिना जिसमें विशेषाकार का प्रतिभास हो रहा है, वह ज्ञान विशद है।

यहाँ पर यदि शंका की जावे कि परोक्षभूत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि में भी स्वरूपसंवेदन से प्रत्यक्ष का लक्षण जाने से अतिव्याप्ति दोष है।

उनका समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होनेवाले इन क्षायोपशमिक ज्ञानों का जो स्वरूपसंवेदन है, वह मन की प्रधानता से उत्पन्न होने के कारण यद्यपि मानस प्रत्यक्ष कहा जावेगा; परन्तु इन ज्ञानों में जो प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद स्वीकृत है, वह बाह्य-पदार्थों को ग्रहण की अपेक्षा से है। अपने स्वरूप को ग्रहण करने में अर्थात् अपने आपको जानने में किसी ज्ञान का व्यवधान अर्थात् आवश्यकता नहीं होती, अत: सदैव प्रत्यक्ष ही है।

स्मृति आदिक ज्ञानों में अपने आपको जानने के लिए अन्य प्रमाणों का व्यवधान नहीं पड़ता है। अत: वे स्व-ग्रहण की अपेक्षा प्रत्यक्ष नाम पाते हैं, जैसे सुखादिक का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष कहा जाता है, वैसे ही स्मृति आदिक ज्ञान अपने आपको संवेदन करने में अन्य का व्यवधान नहीं रखते, अत: सभी मानस प्रत्यक्ष हैं; किन्तु जब वे स्मृति आदिक ज्ञान बाहरी पदार्थ को ग्रहण करने में प्रवृत्त होते हैं, तब उन्हें परोक्ष कहते हैं, क्योंकि उनमें तब प्रमाणान्तर का व्यवधान पाया जाता है। प्रत्यक्षनाम से स्वीकृत हुआ प्रमाण स्व और अन्य घट-पट आदि पदार्थों को प्रमाणान्तर के व्यवधान हुए बिना ही जानता है, अत: वह हमेशा ही प्रत्यक्ष नाम से कहा जायेगा। इस कारण से इसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

यद्यपि प्रतीत्यन्तर के अव्यवधान से होनेवाले ज्ञान का नाम ही वैशद्य है। तथापि वस्तु के वर्ण-गन्धादि तथा आकार-प्रकार आदि विशेषताओं के द्वारा होनेवाले विशिष्ट प्रतिभास को भी वैशद्य कहा गया है, क्योंकि ऐसा न मानने पर समस्त लोक-व्यवहार के विनाश का प्रसंग आ जावेगा।

इस तरह प्रत्यक्ष के दो भेद प्रदर्शित करने के उद्देश्य से सूत्रकार अगला सूत्र कहते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण ह्न

इन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तं देशत: सांव्यवहारिकम्।।५।।

सूत्रार्थ ह्न इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाले एकदेश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

व्याख्या ह्न 'विशदं प्रत्यक्षम्' यह सन्दर्भ चला आ रहा है, अत: प्रत्यक्ष पद की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सं' का अर्थ है समीचीन अबाधित, इस तरह अबाधित प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण वाला जो व्यवहार है, उसका नाम 'संव्यवहार' है। यही संव्यवहार जिसका प्रयोजन है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यहाँ एकदेश प्रत्यक्ष होना यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का स्वरूप कहा और यह इन्द्रियों व मन से होता है; ऐसा कहकर उसकी उत्पत्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है।

यहाँ यदि यह कहा जावे कि इन्द्रिय व अनिन्द्रिय (मन) की तरह अर्थ और आलोक को भी प्रत्यक्ष का कारणरूप कहना चाहिए, तो सूत्रकार उसका आगे सतर्क निषेध करते हैं।

पदार्थ और प्रकाश के ज्ञानकारणता के निषेध में तर्क ह्र

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।।६।।

सूत्रार्थ ह्र पदार्थ व प्रकाश सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं हैं, क्योंकि ये परिच्छेद्य अर्थात् ज्ञान के विषय हैं–जाननेयोग्य ज्ञेय हैं। जो ज्ञान का विषय होता है, वह ज्ञान का कारण नहीं होता, जैसे अन्धकार।

व्याख्या ह्र यहाँ ज्ञान पदार्थ व प्रकाश से उत्पन्न नहीं होता है, यह कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि पदार्थ व प्रकाश से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, तो उनके अभाव में अर्थात् उस जगह पदार्थ की अनुपस्थिति व अन्धकार की उपस्थिति ज्ञान की उत्पत्ति में बाधक भी नहीं है, तभी तो प्रकाश के अभाव में अन्धकार का ज्ञान होता है और उसमें अपने इष्टदेव के दर्शन की अनुभूति प्राय: भक्तगण कर ही लेते हैं।

इसी बात को उदाहरण से सतर्क स्पष्ट करते हैं ह्र

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च
केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचर ज्ञानवच्च ।।७।।

सूत्रार्थ ह्र पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं, क्योंकि ज्ञान का पदार्थ और प्रकाश के साथ अन्वय–व्यतिरेक रूप संबंध का अभाव है। जैसे, केश में भ्रम से होनेवाले मच्छर ज्ञान के साथ तथा नक्तंचर अर्थात् रात्रि में चलनेवाले उलूक आदि को रात्रि में होनेवाले ज्ञान के साथ देखा जाता है।

व्याख्या ह्र 'कारण के होने पर कार्य का होना' अन्वय कहा जाता है, तथा 'कारण के अभाव में कार्य के अभाव' को व्यतिरेक कहा जाता है।

ज्ञान की उत्पत्ति में पदार्थ कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान का पदार्थ के

साथ–अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बनता है। जिसका जिसके साथ अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं होता है, वह उसका कारण नहीं होता है, जैसे कि केशों में होने वाले ज्ञान में मच्छर का ज्ञान अर्थ के साथ अन्वय–व्यतिरेक को नहीं धारण करता है।

इसी तरह प्रकाश भी ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान का भी प्रकाश के साथ अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बनता है। जैसे रात्रि में विचरण करने वाली बिल्ली, उल्लू आदि के ज्ञान में प्रकाश कारण नहीं है; इसीलिए प्रकाश ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है। जैसे ह्र किसी व्यक्ति के माथे पर हवा से केश उड़ रहे हैं और उसे लग रहा है कि मच्छर उड़ रहे हैं। यहाँ केश हैं; लेकिन उनका ज्ञान नहीं हो रहा है, अतः अन्वय खण्डित हुआ। मच्छर नहीं है, फिर भी उनका ज्ञान हो रहा है, अतः व्यतिरेक भी घटित नहीं हुआ।

ज्ञान के अर्थजन्यता और अर्थाकारता का खण्डन ह्र

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ।।८।।

सूत्रार्थ ह्र पदार्थ से उत्पन्न नहीं होकर भी ज्ञान पदार्थ का प्रकाशक होता है, दीपक के समान।

व्याख्या ह्र यहाँ पर अतज्जन्यता और अतदाकारता इन दोनों के विषय में 'दीपक' का दृष्टान्त समान है। जैसे दीपक घट–पटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होकर और उनके आकार नहीं होकर भी उनका प्रकाशक है, वैसे ही ज्ञान भी घटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होकर और उनके आकार नहीं होकर के भी उन पदार्थों को जानता है।

यहाँ पर बौद्धों ने शंका की है कि यदि ऐसा माना जायेगा तब तो व्यक्ति का एक ही ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को जाननेवाला सिद्ध होगा और फिर प्रतिनियत विषय–व्यवस्था नहीं बन सकेगी, इसका उत्तर का सूत्रकार अगले सूत्र में देते हैं।

ज्ञान के विषय की निश्चित व्यवस्था ह्न

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।।९।।

सूत्रार्थ ह्न अपने आवरण कर्म के (ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय) क्षयोपशम लक्षणवाली योग्यता प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदार्थों के जानने की व्यवस्था करता है।

व्याख्या ह्न अपने ज्ञान को रोकने वाले आवरण को स्वावरण कहते हैं। ज्ञान को रोकनेवाले असंख्य आवरण अनादिकाल से चढ़े हुए हैं। उन आवरक कर्मों की जैसी-जैसी क्षयोपशम शक्तिरूपी योग्यता प्रगट होती जाती है, वैसे-वैसे ही आत्मा में जानने की शक्ति भी स्वयमेव व्यक्त होती है। उदयप्राप्त उन आवरण कर्मों के वर्तमान काल में उदयाभाव को क्षय कहते हैं, और अनुदय प्राप्त उन्हीं कर्मों के सत्ता में अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं, ये दोनों ही जिसके लक्षण हैं, ऐसी क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत अर्थ के जानने की व्यवस्था करता है। इस ज्ञान का यह पदार्थ ही विषय है, अन्य नहीं ऐसी व्यवस्था को प्रतिनियत व्यवस्था कहते हैं, और इस तरह जैन लोग ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशमरूप योग्यता को ही प्रतिनियत विषय का नियामक मानते हैं।

बौद्ध तदुत्पत्ति (ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना) ताद्रूप्य (पदार्थ के आकार होना) तदध्यवसाय (उसी पदार्थ को जानना) एवं प्रकाश को ज्ञान का कारण मानते हैं, उनकी मान्यता का खण्डन सूत्रकार ने किया है।

अथानन्तर जो लोग पदार्थ को ज्ञान का कारण होने से परिच्छेद्य अर्थात् जानने योग्य ज्ञेय कहते हैं, उनको समझाते हुए सूत्रकार कहते हैं ह्न

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ।।१०।।

सूत्रार्थ ह्न कारण को परिच्छेद्य अर्थात् ज्ञेय मानने पर करण अर्थात् इन्द्रियों के साथ व्यभिचार दोष आता है।

व्याख्या ह्न यहाँ बौद्ध शंका करते हैं कि हम लोग पदार्थ को ज्ञान का

कारण होने से ज्ञेय नहीं कहते हैं, अपितु वह ज्ञेय है, इसलिए वह ज्ञान का कारण है। इसका समाधान जैन करते हैं कि यदि ज्ञेय होने से पदार्थ को ज्ञान का कारण माना जायेगा तो केशोण्डुक (बालों में मच्छर ज्ञान का भ्रम) आदि ज्ञान से व्यभिचार दोष आ जायेगा। क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों का ज्ञान के प्रति कारणपना होने पर भी ज्ञान के विषय का अभाव होने से अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्वयं को नहीं जानने में व्यभिचार दोष रह गया।

बौद्ध लोग मानते हैं कि जो-जो ज्ञान का कारण है वह-वह ज्ञान का विषय है, इस प्रकार के अनुमान में इन्द्रियों में हेतु तो रह गया, परन्तु साध्यत्व नहीं रहा। कारण कि, ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है कि जो अपनी इन्द्रियों से अपनी ही इन्द्रियों को जान सके। इस तरह इन्द्रियों के साथ व्यभिचार दोष आता है। और व्यभिचार दोष उसे कहते हैं कि जहाँ हेतु के रहने पर भी साध्य न रहे।

मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप ह्न

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियशेषतो मुख्यम् ।।११।।

सूत्रार्थ ह्न सामग्री की विशेषता से विश्लेषित अर्थात् दूर हो गये हैं, समस्त आवरण जिसके ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णरूप से विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

व्याख्या ह्न संसार के प्राणियों में जो ज्ञान की हीनाधिकता दिखती है, वह कर्मकृत है, स्वभावकृत नहीं और कर्म शुभाशुभ भावजन्य है, स्वभावजन्य नहीं। शुभाशुभ भाव ज्ञान के आवरण में हीनाधिकता लाने में ही समर्थ है। ज्ञान का सम्पूर्ण नाश या सम्पूर्ण विकास करने का उनका विषय ही नहीं है। अतः ज्ञान के सम्पूर्ण आवरणों का क्षय करने के लिए उपायान्तर की आवश्यकता है और उस उपायान्तर को 'सामग्री विशेष विश्लेषित' से सूत्रकार ने स्पष्ट किया है।

सामग्री विशेष से अभिप्राय है कि कर्मक्षय के योग्य उत्तम संहनन, उत्तम प्रदेश, उत्तम काल व उत्तम सम्यग्दर्शनादि परिणत रूप भाव की विशेषता से आत्मा के समस्त आवरण दूर हो जाते हैं और अतीन्द्रिय होकर अर्थात् इन्द्रियों के विषय क्षेत्र का उल्लंघन करके जाननेवाला अर्थात् वह ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना ही त्रिलोक व त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यगुण पर्यायों को एक समय में जानता है, ऐसा अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है।

इस मुख्य प्रत्यक्ष में अतीन्द्रिय व अनावरणत्व विशेषण क्यों दिया? 'विशदं प्रत्यक्ष' इतना ही पर्याप्त था, तो सूत्रकार इसका समाधान करते हुए अगला सूत्र कहते हैं।

अतीन्द्रिय व अनावरणत्व विशेषण की सार्थकता ह्न

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबंधसम्भवात् ।।१२।।

सूत्रार्थ ह्न आवरण सहित होने पर और इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न होने पर प्रतिबंध सम्भव है।

व्याख्या ह्न ज्ञान सभी को अत्यधिक स्पष्ट जाने इसके लिए उसका निरावरण व अतीन्द्रिय होना अत्यावश्यक है। जब तक ज्ञान पर आवरण रहेगा या वह इन्द्रियों की सहायता से होगा, तब तक उसमें किसी न किसी तरह से बाधाएँ आने की सम्भावना बनी रहेगी। अत: वह ज्ञान स्पष्ट रूप से नहीं जान सकेगा। इस तरह मुख्य प्रत्यक्षरूप विशद ज्ञान के लिए दो सिद्धान्त रखे हैं ह्न

पहला, उसे निरावरण होना चाहिए और दूसरा, उसे इन्द्रियों की सहायता के बिना उत्पन्न होना चाहिए तभी वह ज्ञान पूर्ण विशदता को प्राप्त होगा।

इति द्वितीय परिच्छेद।

तृतीय परिच्छेद

परोक्ष प्रमाण का लक्षण ह्न

परोक्षमितरत् ।।१।।

सूत्रार्थ ह्न पहले प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप कहा था, उससे पृथक् स्वरूप वाला परोक्ष कहलाता है अर्थात् अविशद ज्ञान परोक्ष प्रमाण है।

परोक्षज्ञान के भेद ह्न

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ।।२।।

सूत्रार्थ ह्न जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण आदिक निमित्त हैं, वह परोक्ष प्रमाण है। आदिक से अभिप्राय परोक्ष प्रमाण के भेदों से है, जो उत्तरवर्ती प्रमाण ज्ञान के कारण हैं। वे परोक्ष प्रमाण स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम के भेद से पाँच प्रकार के हैं। ये परोक्ष प्रमाण अपनी उत्पत्ति में पूर्ववर्ती प्रमाणज्ञानों की अपेक्षा रखते हैं। इसीलिए परोक्ष के इन भेदों को एक विशेषक्रम में रखना ही आवश्यक एवं अनिवार्य है।

स्मृति का स्वरूप ह्न

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति: ।।३।।

सूत्रार्थ ह्न संस्कार की प्रगटता के कारण से 'वह' इसप्रकार का आकार (प्रतिभास) वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

व्याख्या ह्न संस्कार का अर्थ धारणा ज्ञान है, जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का भेद है। मात्र संस्कार स्मृति का कारण नहीं है, क्योंकि कई संस्कार अन्दर होने पर भी स्मृति नहीं होती है। अत: 'उद्बोध' शब्द रखा है, जिसका सीधा भाव है कि इस संस्कार की प्रगटता स्मृति में कारण है।

स्मृति का उदाहरण ह्न

स देवदत्तो यथा ।।४।।

सूत्रार्थ ह्न जैसे वह 'देवदत्त' इसप्रकार का प्रतिभास होना स्मृति है।

व्याख्या ह्न यहाँ पूर्व में देवदत्त का प्रत्यक्ष किया, जिससे यह धारणा ज्ञान में परिवर्तित हुआ। अथानन्तर कभी सोचते हुए यह मन में आया कि वह देवदत्त इस स्वभाववाला था ह्न इसप्रकार से उसका मानस प्रत्यक्ष होना ही स्मृति है। जिसका पूर्व में इन्द्रिय प्रत्यक्ष हुआ होगा, उसी का कालान्तर में धारणाज्ञान से मानस प्रत्यक्ष हो सकता है।

प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप व भेद ह्न

दर्शन–स्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्।
तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ।।५।।

सूत्रार्थ ह्न प्रत्यक्षदर्शन और स्मृति के द्वारा जो जोड़रूप ज्ञान होता है, उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके वह ही यह है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है यह उसका प्रतियोगी है इत्यादि अनेक भेद हैं।

जिस ज्ञान में दर्शन और स्मरण निमित्त पड़ता है वह 'दर्शनस्मरण कारणकं' कहलाता है। संकलन का अर्थ अनुसंधान रूप ज्ञान से है।

प्रत्यभिज्ञान के भेदों के उदाहरण ह्न

यथा स एवायं देवदत्त:, गोसदृशो गवय:, गोविलक्षणो महिष:, इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि ।।६।।

सूत्रार्थ ह्न जैसे वह ही यह देवदत्त है, गाय के समान नील गाय होती है, गाय के विलक्षण (भिन्न) भैंस होती है, यह इससे दूर है, यह वृक्ष है इत्यादि क्रमश: एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान, प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान और सामान्य प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण जानने चाहिए।

व्याख्या ह्न प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण रूप में स्वीकार करनेवाला एक मात्र जैनदर्शन ही है। बौद्धादिक प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं। जबकि पूर्वोत्तर पर्यायव्यापि एक द्रव्य जिसका विषय है, ऐसा जोड़ रूप प्रत्यभिज्ञान भलीभांति प्रतीति में आता है। साथ ही यदि एकत्व और सादृश्य को विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञान का लोप किया जायेगा, तो

अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति भी नहीं बन सकेगी, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के बिना 'यह अग्नि उसके समान है' इत्यादि प्रतीति नहीं होगी। प्रत्यभिज्ञान के बिना तो जगत का व्यवहार भी नहीं चल सकता है। ''यह वही देवदत्त है'' ऐसा एकत्व–प्रत्यभिज्ञान के बिना जगत का लेन–देन का व्यवहार भी नहीं चल सकता है, क्योंकि पहले और अभी के अवस्था के कार्यों का मिलान करनेवाला कोई ज्ञान हमारे पास इसके अतिरिक्त नहीं है। इसी तरह दो द्रव्यों में विद्यमान विलक्षणता का बोध, जैसे भैंसा को देखकर यह ज्ञान कि जो पहले गाय देखी थी, उससे यह भैंसा विलक्षण स्वरूप वाला है। यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान से ही सम्भव है। इसीतरह से किसी के मकान को देखकर यह कहना कि 'यह उससे दूर है' अथवा इससे यह छोटा है इत्यादि ज्ञान प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान से ही सम्भव है तथा वृक्ष इत्यादि से अपरिचित को शाखा आदि के परिचय द्वारा वृक्ष का ज्ञान कराना सामान्य–प्रत्यभिज्ञान से ही सम्भव है।

तर्क प्रमाण का स्वरूप व कारण ह्न

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह: ।।७।।

सूत्रार्थ ह्न उपलंभ (प्राप्ति, साध्य के होने पर साधन का होना) तथा अनुपलंभ (साध्य के अभाव में साधन का नहीं होना, अप्राप्ति) के निमित्त से होनेवाले व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याख्या ह्न किसी एक पदार्थ के होने पर दूसरे पदार्थ के होने और उसके न होने पर दूसरे के भी न होने को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति ज्ञान के दो कारण हैं ह्न एक प्रत्यक्षरूप उपलंभ और दूसरा अनुपलंभ। धूम के होने पर अग्नि के होने का ज्ञान प्रत्यक्ष है और अग्नि के अभाव में धूम के अभाव का ज्ञान अनुपलंभ है। इन अग्नि व धूमादिरूप साध्य–साधनों का क्षयोपशम के अनुसार एक बार में अथवा अनेक बार में दृढ़ निश्चय होना उपलंभ–अनुपलंभ कहलाता है और साध्य–साधन के व्याप्ति का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष निमित्तक ही नहीं है, अपितु आप्त पुरुष के वाक्यों को सुनकर और अनुमान द्वारा भी व्याप्ति ज्ञान होता है। यदि साध्य–साधन के

अविनाभाव का निश्चय केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना माने तो अतीन्द्रियरूप साध्य-साधन का अविनाभाव ज्ञात नहीं हो सकेगा। जैसे, इस पुरुष के पुण्य का सद्भाव पाया जाता है, क्योंकि विशिष्ट सुखादि की अन्यथानुपपत्ति है, यहाँ सुख अतीन्द्रिय है। सूर्य के गमन-शक्ति का अविनाभाव भी प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। अत: जो व्याप्ति का ग्रहण केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना मानते हैं, वह असत् है। इस तरह व्याप्ति-ज्ञान का मूल निमित्त उपलंभानुपलंभ अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक माना गया है।

व्याप्ति की प्रवृत्ति व उदाहरण ह्न

इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ।।८।।

यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।।९।।

सूत्रार्थ ह्न यह साधन रूप वस्तु इस साध्यरूप वस्तु के होने पर ही होती है और साध्यरूप वस्तु के नहीं होने पर नहीं होती। जैसे अग्नि के होने पर ही धुआँ होता है। अग्नि के अभाव में धुआँ नहीं ही होता है। धुएँ की अग्नि के साथ अन्वय-व्याप्ति तथा अग्नि के अभाव की धुएँ के अभाव के साथ व्यतिरेक-व्याप्ति है।

अनुमान प्रमाण का लक्षण ह्न

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।।१०।।

सूत्रार्थ ह्न साधन से होनेवाले साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं अर्थात् साधनरूप लिंग से साध्यरूप लिंगी का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे, धूम देखकर अग्नि का ज्ञान करना।

हेतु (साधन) का लक्षण ह्न

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु: ।।११।।

सूत्रार्थ ह्न साध्य के साथ अविनाभाव रूप से रहना जिसका निश्चित हो उसको हेतु कहते हैं।

हेतु का प्रधान लक्षण अविनाभाव है, अत: सूत्रकार आगे अविनाभाव का स्वरूप ही बतलाते हैं :-

सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव: ।।१२।।

सूत्रार्थ ह्न सहभाव नियम और क्रमभाव नियम ऐसे अविनाभाव के दो भेद हैं।

व्याख्या ह्न एक साथ रहनेवाले साध्य-साधन के संबंध को सहभाव नियम कहते हैं। काल के भेद से क्रमपूर्वक होनेवाले साध्य-साधन के संबंध को क्रमभाव नियम कहते हैं।

सहभाव नियम अविनाभाव का स्वरूप ह्न

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव: ।।१३।।

सूत्रार्थ ह्न सहचारी रूप-रसादि में और व्याप्य-व्यापक पदार्थों में सहभाव अविनाभाव होता है।

व्याख्या ह्न रूप-रसादि सदा साथ-साथ रहते हैं, अत: सहचारी कहलाते हैं तथा वृक्षत्व और शिंशपात्वादि व्याप्य-व्यापक कहलाते हैं। इसमें वृक्षत्व तो व्यापक है क्योंकि उसका विषय-क्षेत्र अधिक है तथा शिंशपात्व व्याप्य है, कारण कि उसका विषयक्षेत्र कम है।

क्रमभाव नियम अविनाभाव का स्वरूप ह्न

पूर्वोत्तरचारिणो: कार्यकारणयोश्च क्रमभाव: ।।१४।।

सूत्रार्थ ह्न पूर्व और उत्तर-काल भावी पदार्थों में और कार्य-कारणों में क्रमभाव नियम अविनाभाव होता है।

व्याख्या ह्न सोमवार और मंगलवार के उदय में एक दिन का अन्तर है। सोमवार पहले आता है अत: वह पूर्वचर है, मंगलवार का उदय एक दिन बाद होता है, अत: वह उत्तरचर है। उदय होने की अपेक्षा से दोनों में क्रमभाव संबंध है। इसीप्रकार अग्नि कारण है और धूम उसका कार्य है, इसलिए कारण और कार्य में भी क्रमभाव संबंध है।

ऐसे अविनाभावी का ज्ञान किसप्रकार से जाना जावे ? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ह्न

तर्कात्तन्निर्णय: ।।१५।।

सूत्रार्थ ह्न तर्क से उसका अर्थात् अविनाभाव संबंध का निर्णय होता है।

व्याख्या ह्न भारतीय दर्शन में 'तर्क' को प्रमाणरूप से स्वीकार करनेवाला जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई दर्शन नहीं है। चूँकि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता, जबकि तर्क व्याप्ति का निर्णय करने में पूर्णत: समर्थ है। अत: तर्क को प्रमाण रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा।

साध्य का स्वरूप ह्न

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।।१६।।

सूत्रार्थ ह्न इष्ट, अबाधित और असिद्धभूत पदार्थ को 'साध्य' कहते हैं।

व्याख्या ह्न जिसे वादी सिद्ध करना चाहता है, उसे इष्ट कहते हैं। जिसमें प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाधा न आती हो, उसे अबाधित कहते हैं और जो किसी प्रमाण से सिद्ध न हुआ हो, उसे असिद्ध कहते हैं।

साध्य के लक्षण में 'असिद्ध' विशेषण की सार्थकता ह्न

संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।।१७।।

सूत्रार्थ ह्न सन्दिग्ध, विपरीत और अव्युत्पन्न पदार्थ साध्यरूप हो सकें, इस हेतु से साध्य का लक्षण करते समय असिद्ध विशेषण दिया है।

व्याख्या ह्न 'यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष', इसप्रकार दो पक्षों को ग्रहण करनेवाले ज्ञान के विषयभूत अर्थ को सन्दिग्ध कहते हैं। यथार्थ से विपरीत वस्तु का निश्चय करनेवाले विपर्यय ज्ञान के विषयभूत सीप में चांदी आदि पदार्थ विपर्यस्त कहलाते हैं। नाम, जाति, संख्या आदि के विशेष ज्ञान न होने से अनिर्णीत विषयवाले अनध्यवसाय ज्ञान से ग्राह्य पदार्थ को अव्युत्पन्न कहते हैं।

सन्दिग्ध, विपर्यस्त एवं अव्युत्पन्न पद प्रतिवादी की अपेक्षा से हैं। जो प्रतिवादी को भी सिद्ध है, वह साध्य नहीं होता है।

'इष्ट' व 'अबाधित' विशेषणों की सार्थकता ह्न

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयो: साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम् ।।१८।।

सूत्रार्थ ह्न अनिष्ट एवं प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित पदार्थ साध्यरूप नहीं होवें, इसलिए 'इष्ट' और 'अबाधित' ये दो विशेषण साध्यपद के साथ प्रयोग किये हैं।

व्याख्या ह्न सूत्रोक्त 'आदि' शब्द से अनुमान, आगम, लोक तथा स्ववचन रूप प्रमाण से बाधित पक्षवाले साध्य का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे, आत्मा में सर्वथा नित्यपना सिद्ध करना जैनों को इष्ट नहीं अर्थात् अनिष्ट है। शब्द को अश्रावणत्व मानना प्रत्यक्षबाधित है। शब्द का नित्य मानना अनुमान बाधित है। धर्म को परलोक में दु:खदायी मानना आगमबाधित है। 'मेरी माता बन्ध्या है' ह्न ऐसा कहना स्व-वचन बाधित है। मनुष्य का कपाल शुचि है ह्न यह कहना लोक-बाधित है। अत: ये साध्य रूप में मान्य नहीं होंगे।

जिसप्रकार जैनों को आत्मा का कथंचित् नित्य मानना इष्ट है। उसीप्रकार अन्य को उसमें सर्वथा नित्यत्व अभीष्ट है। अत: उसमें भी साध्यत्व का प्रसंग प्राप्त होता है; तो इस शंका का निवारण सूत्रकार करते हैं कि ह्न

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिन: ।।१९।।

सूत्रार्थ ह्न जिसप्रकार असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है, उसीप्रकार इष्ट विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से नहीं है।

व्याख्या ह्न विशेष्य-विशेषण भाव प्रतिनियत होता है। अत: सभी के लिए सब विशेषण लागू नहीं होते। साध्य में असिद्ध विशेषण जैसे प्रतिवादी की अपेक्षा से है, न कि वादी की अपेक्षा से, क्योंकि वादी तो साध्य के स्वरूप का प्रतिपादक है। यदि वादी को ही साध्य असिद्ध हो तो वह उसका स्वरूप किसप्रकार से प्रतिपादन करेगा ? तथा प्रतिवादी तो समझने वाला होने से अविज्ञात अर्थवाला है। साध्य का इष्ट विशेषण वादी की

अपेक्षा से है; क्योंकि वादी को जो इष्ट है, वही साध्य होगा। सभी को इष्ट प्रतिपादन में एकसाथ साध्य नहीं हुआ करता है। इसका कारण है कि ह्न

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।।२०।।

सूत्रार्थ ह्न विषय प्रतिपादन एवं समझाने की इच्छा वक्ता को ही हुआ करती है अर्थात् अपने इष्ट तत्त्व के प्रतिपादन करने के लिए वक्ता को (वादी को) ही इच्छा होती है।

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।।२१।।

सूत्रार्थ ह्न व्याप्ति का प्रयोग करते समय 'धर्म' साध्य होता है; और कहीं अर्थात् अनुमान का प्रयोग करते समय धर्म से युक्त धर्मी साध्य होता है।

व्याख्या ह्न जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धूम भी नहीं होता। इसप्रकार से जब शिष्यादि को साध्य-साधन का ज्ञान कराया जाता है, तब उसे व्याप्ति का प्रयोग कहते हैं। इस व्याप्ति-प्रयोग में अग्निरूप धर्म ही साध्य होता है। इस पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वह धूमवाला है। इसप्रकार से अनुमान के प्रयोग करने को प्रयोगकाल कहते हैं, उस समय अग्निरूप धर्म से विशिष्ट पर्वत ही साध्य होता है।

पक्ष इति यावत् ।।२२।।

सूत्रार्थ ह्न धर्मी का दूसरा नाम पक्ष भी है।

प्रसिद्धो धर्मी ।।२३।।

सूत्रार्थ ह्न धर्मी प्रसिद्ध होता है अर्थात् वह प्रमाण से सिद्ध होता है, काल्पनिक नहीं। उस धर्मी की प्रसिद्धि तीन तरह से होती है ह्न प्रमाण से, विकल्प से तथा उभयरूप से।

विकल्प सिद्ध धर्मी में साध्य ह्न

विकल्पेसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ।।२४।।

अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणमिति ।।२५।।

सूत्रार्थ ह्न जब धर्मी विकल्प सिद्ध होता है, तब साध्य सत्ता और

असत्ता इन दो रूप हो सकता है। जैसे 'सर्वज्ञ है' ऐसे प्रतिज्ञारूप वाक्य में सत्ता साध्य है। तथा 'खर विषाण' (गधे के सींग) नहीं हैं' ह्न ऐसे प्रतिज्ञा वाक्य में असत्ता साध्य है।

व्याख्या ह्न जिस पक्ष का किसी प्रमाण से न तो अस्तित्व ही सिद्ध हो और न ही नास्तित्व ही सिद्ध हो उस पक्ष को विकल्पसिद्ध कहते हैं। इसमें सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाण के बल से सत्ता साध्य होती है और योग्य की अनुपलब्धि के बल से असत्ता साध्य होती है। जैसे, 'सर्वज्ञता' में सुनिश्चित बाधक प्रमाण नहीं होने से इस हेतु से ही सत्ता-साध्य है और खरविषाण में प्राप्त होने के योग्य होने पर भी पाया नहीं जाता ह्न इस हेतु से उसकी असत्ता सिद्ध की जाती है।

प्रमाणसिद्ध तथा उभयसिद्ध धर्मी में साध्य ह्न

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता साध्या ।।२६।।

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्दः इति यथा ।।२७।।

सूत्रार्थ ह्न प्रमाण सिद्ध धर्मी के रहते हुए एवं उभयसिद्ध धर्मी के रहते हुए साध्य धर्म विशिष्टता साध्य होती है। जैसे यह प्रदेश अग्नियुक्त है ह्न यह प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध धर्मी का उदाहरण है। शब्द परिणामी है ह्न यह उभयसिद्ध धर्मी का उदाहरण है।

व्याख्या ह्न यहाँ विकल्प सिद्ध धर्मी की तरह आस्ति या नास्ति ही साध्य होना आवश्यक नहीं है। प्रथम उदाहरण में पर्वत पर 'अग्नि' साध्य है तथा पर्वत प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होने से प्रमाणसिद्ध धर्मी है।

दूसरे उदाहरण में शब्द की 'परिणमनशीलता' साध्य है। वर्तमानकालीन नियतदेशवर्ती शब्द तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है; लेकिन भूत-भविष्यत व अनियत देशवर्ती शब्द विकल्पसिद्ध है, अतः यह उभयसिद्ध धर्मी है।

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।।२८।।

अन्यथा तदघटनात् ।।२९।।

सूत्रार्थ ह्न व्याप्ति का प्रयोग करते समय धर्म को ही साध्य बनाते हैं न

कि धर्म विशिष्ट धर्मी को; क्योंकि धर्मी को साध्य बनाने पर व्याप्ति घटित नहीं हो सकती है अर्थात् जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ धर्मी पर्वत है ह्व ऐसी व्याप्ति घटित नहीं होती; अपितु जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ साध्य धर्म अग्नि है ह्व ऐसी व्याप्ति ही घटित होती है। इसका भी एक कारण है कि धर्मी के साथ हेतु का अन्वय असिद्ध है।

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।।३०।।

सूत्रार्थ ह्व साध्यरूप धर्म के आधार के विषय में उत्पन्न हुए सन्देह को अपनोद अर्थात् दूर करने के लिए गम्यमान अर्थात् जाने हुए भी पक्ष का कथन करना आवश्यक है।

व्याख्या ह्व अस्तित्वादि साध्य का धर्म होता है, उसका आधार या आश्रय कि जहाँ पर साध्य धर्म रहता है, उसमें संशय उत्पन्न हो कि जैसे साध्य रूप अग्नि के अस्तित्व की सिद्धि करते समय उसके आधाररूप पर्वत, महानस आदि जगहों में रहने का सन्देह पैदा होता है; क्योंकि उक्त दोनों स्थलों पर अग्निमत्व रह सकता है। अत: अग्निमत्व साध्य वास्तव में कहाँ साधना है, इसका निश्चय करने के लिए ही पक्षरूप वचन का प्रयोग किया जाता है।

पक्ष प्रयोग की आवश्यकता का दृष्टान्त ह्व

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।।३१।।

सूत्रार्थ ह्व जिसप्रकार साध्य से युक्त धर्मी में साधन रूप धर्म का ज्ञान कराने के लिए पक्षधर्म के उपसंहार रूप उपनय का प्रयोग किया जाता है।

व्याख्या ह्व बौद्ध लोग व्युत्पन्न पुरुष के लिए अनुमान के प्रयोग काल में केवल हेतु का ही प्रयोग आवश्यक मानते हैं। पक्ष का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते। उसके लिए आचार्य ने यह कहा है कि, पक्ष के कहे बिना साध्य के आधार में सन्देह हो सकता है। उसको दूर करने के लिए पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता है। जैसे 'पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि धूम है, जहाँ–

जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य होती है, जैसे ह्व रसोईघर। यहाँ इसके बाद जैसे रसोईघर धूमवाला है, उसीतरह पर्वत भी धूमवाला है' यह उपनय प्रयोग किया जाता है, ताकि निश्चित पक्ष में साधन मालूम हो जावे, ठीक इसीतरह स्वत:सिद्ध होने पर भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है।

इसी बात को उपहास के रूप में समर्थन करते हैं ह्व

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।।३२।।

सूत्रार्थ ह्व ऐसा कौन वादी–प्रतिवादी है कि जो तीनप्रकार के हेतु को कहकर पुनश्च उसका समर्थन करता हुआ भी पक्ष का प्रयोग नहीं करें? अपितु करेगा।

व्याख्या ह्व हेतु के असिद्धत्व आदि दोषों का परिहार करके अपने साध्य के सिद्ध करने की सामर्थ्य के निरूपण करने में प्रवीण वचन को समर्थन कहते हैं। यहाँ हेतु के तीन प्रकार ह्व स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु लेना है।

अनुमान के अंगों का वर्णन ह्व

एतद्द्वयमेवानुमाङ्गं नोदाहरणम् ।।३३।।

सूत्रार्थ ह्व ये दो ही अनुमान के अंग हैं, उदाहरणादिक नहीं।

व्याख्या ह्व यहाँ पर नैयायिक आदिकों का कहना है कि पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन ये पाँच अनुमान के अंग हैं। उनके निषेध के लिए कहा कि पक्ष (प्रतिज्ञा) और हेतु ये दो ही अनुमान के अंग हैं, उदाहरणादिक नहीं। तदुपरान्त भी जो उदाहरण का प्रयोग आवश्यक मानते हैं; उनसे जैन पूछते हैं कि, (१) क्या साध्य का ज्ञान कराने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है ? अथवा (२) हेतु का अविनाभाव नियम बतलाने के लिए अथवा (३) व्याप्ति का स्मरण कराने के लिए? इसप्रकार तीन विकल्प उठाकर क्रमश: दूषण बतलाते तीनों का निराकरण करते हैं।

प्रथम विकल्प का निराकरण ह्न

न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात्।।३४।।

सूत्रार्थ ह्न वह उदाहरण साध्य की प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान में अंग अर्थात् कारण नहीं है; क्योंकि साध्य के ज्ञान में यथोक्त (साध्याविनाभावी) हेतु का ही व्यापार होता है।

द्वितीय विकल्प का शोधन ह्न

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकप्रमाणबलादेव तत्सिद्धेः।।३५।।

सूत्रार्थ ह्न वह उदाहरण अविनाभाव के निश्चय के लिए भी कारण नहीं है; क्योंकि विपक्ष में बाधक प्रमाण से ही अविनाभाव सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या ह्न साध्य के साथ अमुक हेतु का अविनाभाव है, इस प्रकार का निर्णय करने के लिए उदाहरण को ग्रहण करना अयुक्त ही है; क्योंकि वह निर्णय तो विपक्ष में बाधक प्रमाण से ही हो जाता है अर्थात् अमुक हेतु विपक्ष में सर्वथा असंभव है ह्न इसप्रकार के बाधक प्रमाण से ही हेतु का अविनाभाव सिद्ध होता है, जैसे पर्वत में अग्नि सिद्ध करते समय रसोईघर सपक्ष है और तालाब विपक्ष; क्योंकि यहाँ साध्य (अग्नि) से विजातीय धर्म (जल) है। यहाँ धूम हेतु का अग्नि साध्य के साथ अविनाभाव इसप्रकार सिद्ध होगा कि तालाब में अग्नि के अभाव में धूम नहीं पाया जाता, यदि पाया जावे तो धूम और अग्नि के कार्य-कारण भाव का भंगरूप बाधक प्रमाण उपस्थित होगा। विपक्ष में ऐसे ही बाधक प्रमाण मिलते हैं। जिनसे साध्य के साथ साधन का अविनाभाव निर्णीत हो जाता है। इसकारण अनुमान के अंगों में उदाहरण की आवश्यकता नहीं है।

प्रकारान्तर से भी खण्डन ह्न

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात्।।३६।।

सूत्रार्थ ह्न निदर्शन अर्थात् उदाहरण तो व्यक्तिरूप (पर्वतरूप या महानस आदि को ग्रहण करनेवाला) होता है और व्याप्ति सामान्य रूप अर्थात् सर्वदेश-काल की उपसंहार (पूर्ण व्याप्त) करनेवाली होती है। अत: इस उदाहरण में भी विवाद होने पर भी अन्य उदाहरण की अपेक्षा पड़ने से अनवस्था दोष प्राप्त होगा।

तृतीय विकल्प कहते हैं ह्न

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः।।३७।।

सूत्रार्थ ह्न तीसरी बात यह भी है कि व्याप्ति का स्मरण कराने के लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका स्मरण तो अविनाभाव स्वरूप वाले हेतु के प्रयोग से ही हो जाता है।

व्याख्या ह्न जिसने साध्य के साथ साधन का संबंध ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष को तो हेतु के दिखलाने से ही व्याप्ति की सिद्धि हो जायेगी; परन्तु जिसने अविनाभाव के संबंध को ग्रहण नहीं किया है, ऐसे पुरुषों को सैकड़ों उदाहरणों से भी व्याप्ति का स्मरण नहीं होगा; क्योंकि स्मरण तो पहले अनुभव किए हुए पदार्थ का ही होता है।

इसप्रकार से यह सिद्ध है कि उदाहरण का प्रयोग साध्य के लिए उपयोगी नहीं है, अपितु वह तो संशय का भी कारण हो जाता है। यह तथ्य सूत्रकार आगे स्पष्ट भी कर रहे हैं।

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति।।३८।।

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने।।३९।।

सूत्रार्थ ह्न वह उदाहरण परम अर्थात् मात्र कहे जाने पर तो साध्य धर्म वाले धर्मी में साध्य के सिद्ध करने में सन्देह करा देता है, यदि ऐसा नहीं होता तो उदाहरण के पश्चात् ही उपनय व निगमन के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यों होती ? इससे यह सिद्ध होता है कि मात्र उदाहरण संशय को पैदा करता है।

अनुमान के अंगों में उपनय-निगमन का निषेध ह्न

न च ते तदंगे, साध्यधर्मिणि
हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ।।४०।।

सूत्रार्थ ह्न उपनय व निगमन भी अनुमान के अंग नहीं हैं; क्योंकि साध्यधर्मी (पक्ष) में साध्य और हेतु का कथन करने में ही साध्यधर्म वाले धर्मी में संशय नहीं रहता है।

व्याख्या ह्न यौग दर्शन उपनय व निगमन को अनुमान का अंग मानता है। उनके यहाँ दृष्टान्त का प्रयोग करके उसके समर्थन के लिए उपनय व निगमन का विधान है; क्योंकि इसके बिना असंदिग्धरूप से साध्य का सही ज्ञान नहीं हो सकता है और जिस हेतु का समर्थन न हुआ हो, तो वह हेतु ही नहीं हो सकता। इस संदर्भ में जैनदर्शन कहता है कि समर्थन ही हेतु का उत्तम रूप है, अत: उसे ही अनुमान का अवयव मानना चाहिए; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसका ही उपयोग है। इस बात को सूत्रकार आगे कहते हैं कि ह्न

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये
तदुपयोगात् ।।४१।।

सूत्रार्थ ह्न समर्थन ही हेतु का वास्तविक रूप है, अत: वही अनुमान का अवयव माना जावे; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसी का उपयोग होता है।

हेतु के असिद्धादि दोष को दूर करके स्व-साध्य के साथ उसका अविनाभाव स्थापित करना समर्थन कहलाता है।

बाल-बुद्धि वालों को समझाने के लिए उदाहरण, उपनय, निगमन की आवश्यकता ह्न

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न
वादेऽनुपयोगात् ।।४२।।

सूत्रार्थ ह्न बालबुद्धि वाले शिष्यों को ज्ञान कराने के लिए उदाहरणादिक

तीनों अंगों का स्वीकार शास्त्र के समय ही किया गया है, वाद के समय नहीं, वाद में उदाहरणादिक तो अनुपयोगी हैं।

व्याख्या ह्न वाद-विवाद के समय शिष्यों को व्युत्पन्न नहीं किया जाता; अपितु व्युत्पन्न बुद्धिवालों का ही वाद में अधिकार होता है। शास्त्र में उदाहरण आदि रहते हैं, उसमें जो निपुण हो जाते हैं, वे वादीगण वाद करते समय सामनेवाले प्रतिवादी पुरुष जिस प्रकार से समझ सकें, उनको उसी प्रकार से समझाने में समर्थ हुआ करते हैं। उस समय जितने अनुमानांग से प्रयोजन सधता है, उतने अंग का प्रयोग किया जाता है; क्योंकि प्रयोग परिपाटी तो प्रतिपाद्य के अनुसार होती है ह्न ऐसा जैनमत कहता है।

बालबुद्धि को व्युत्पन्न करने के लिए उदाहरण का स्वरूप तथा प्रकारह्न

दृष्टान्तो द्वेधा अन्वय-व्यतिरेकभेदात् ।।४३।।

सूत्रार्थ ह्न दृष्टान्त दो प्रकार का है ह्न अन्वय दृष्टान्त व व्यतिरेक दृष्टान्त।

व्याख्या ह्न वादी और प्रतिवादी द्वारा बिना विवाद के विधि-प्रतिषेध रूप से साध्य-साधन धर्म जहाँ देखा जाता है, उसे दृष्टान्त कहते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ हुआ कि ''दृष्टौ अन्तौ-साध्य साधन-धर्मौ यस्मिन् सा दृष्टान्त:।''

क्रमप्राप्त अन्वय दृष्टान्त का स्वरूप ह्न

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्त: ।।४४।।

सूत्रार्थ ह्न जहाँ पर साध्य से व्याप्त साधन को दिखाया जाता है, उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं। जैसे ह्न अग्नि को साध्य करने पर रसोईघर का दृष्टान्त देते हैं अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है ह्न जैसे ह्न रसोईघर।

व्यतिरेक दृष्टान्त का स्वरूप ह्न

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक
दृष्टान्त: ।।४५।।

सूत्रार्थ ह्न जहाँ पर साध्य के अभाव में साधन का अभाव कहा जाता

है, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। जैसे ह्न जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नही होता। जैसे ह्न जलाशय।

उपनय का लक्षण ह्न

हेतोरुपसंहार उपनय: ।।४६।।

सूत्रार्थ ह्न हेतु के दुहराने को उपनय कहते हैं।

व्याख्या ह्न साध्य के साथ जिसका अविनाभाव है ह्न ऐसे हेतु का विशिष्ट साध्यरूपी धर्मी में जिसके द्वारा प्रदर्शन किया जाता है, उसको उपनय कहते हैं। ''उपनीयते हेतु: येन स: उपनय'' इसप्रकार से उपनय शब्द की निरुक्ति है।

निगमन का स्वरूप ह्न

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।।४७।।

सूत्रार्थ ह्न प्रतिज्ञा के दुहराने को निगमन कहते हैं।

व्याख्या ह्न यह पर्वत अग्निवाला है (प्रतिज्ञा) धूमवाला होने से (हेतु) जैसे रसोईघर (उदाहरण) जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ-वहाँ धुँआ भी नहीं होता है (व्यतिरेक व्याप्ति) जैसे जलाशय (व्यतिरेक दृष्टान्त) चूंकि पर्वत पर धुंआ है (उपनय) अत: यहाँ अग्नि है (निगमन) इसप्रकार अनुमान के पाँच अवयव घटित किये जाते हैं।

अनुमान के प्रकार ह्न

तदनुमानं द्वेधा ।।४८।।

स्वार्थपरार्थभेदात् ।।४९।।

सूत्रार्थ ह्न वह अनुमान दो प्रकार का होता है। १. स्वार्थ अनुमान २. परार्थ अनुमान।

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ।।५०।।

सूत्रार्थ ह्न स्वार्थ अनुमान का लक्षण कहा जा चुका है।

व्याख्या ह्न साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ह्न ऐसा जो पूर्व में अनुमान का लक्षण कहा है, वही स्वार्थानुमान का लक्षण है।

परार्थ अनुमान का स्वरूप ह्न

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।।५१।।

सूत्रार्थ ह्न उस स्वार्थानुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श अर्थात् विषय करनेवाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं।

व्याख्या ह्न दूसरों के वचनों के द्वारा साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, वह परार्थानुमान है और दूसरों के वचन बिना ही स्वयं साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है।

अचेतन वचन साक्षात् अज्ञान की निवृत्ति में कारण नहीं हो सकते हैं, अत: उन वचनों के द्वारा मुख्यतया प्रमाणता का अभाव है। तथापि ज्ञानरूप मुख्य अनुमान के हेतु होने से उन वचनों को गौणरूप से अनुमान संज्ञा दी गई है। इस तरह से वचनों को भी गौण रूप से परार्थानुमान कहा जाने में किसी को भी कोई आपत्ति का अवकाश नहीं रहना चाहिए। इसी बात को अगले सूत्र में कहा गया है।

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।।५२।।

सूत्रार्थ ह्न परार्थानुमान के कारण होने से 'तद्' अर्थात् परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं।

व्याख्या ह्न साध्य-साधनभूत अर्थ के द्योतक वचन भी लक्षणभूत मुख्य अनुमान का निमित्त होने के कारण उपचार से परार्थानुमान कहलाते हैं। जैसे कोई पर्वतादि में धूम को देखकर समीपस्थ पुरुष को कहता है कि ''यहाँ पर अग्नि अवश्य है; क्योंकि धूम दिखलायी दे रहा है।'' ह्न इस साध्य-साधन के वचन को सुनकर उसके निमित्त से समीपस्थ पुरुष को जो साध्य-साधन का ज्ञान होता है, वह वास्तविक परार्थानुमान है और उस ज्ञाता पुरुष के जो साध्य-साधन के वचनमात्र है, वह औपचारिक परार्था-नुमान है।

हेतु के प्रकार ह्न

स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ।।५३।।

सूत्रार्थ ह्न वह हेतु दो प्रकार का है ह्न १. उपलब्धिरूप हेतु, २. अनुपलब्धिरूप हेतु।

व्याख्या ह्न उपलब्धि का अर्थ विद्यमानता से है। बौद्ध लोग उपलब्धि रूप हेतु को विधि अर्थात् सद्भाव का साधक मानते हैं। इसीप्रकार अनुपलब्धि नाम अविद्यमानता का है और बौद्ध इसे प्रतिषेध अर्थात् अभाव का ही साधक मानते हैं।

जैनाचार्य उक्त नियम का निषेध करते हुए कहते हैं कि, उपलब्धि और अनुपलब्धि रूप दोनों ही हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक हैं ह्न

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।।५४।।

सूत्रार्थ ह्न उपलब्धि रूप हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों का साधक है। इसी तरह अनुपलब्धि रूप हेतु भी दोनों का साधक है।

व्याख्या ह्न उपलब्धि रूप हेतु के दो भेद हैं ह्न १. अविरुद्ध-उपलब्धि और २. विरुद्ध-उपलब्धि। इनमें पहला विधि अर्थात् सद्भाव रूप वस्तु को साधने वाला हैं, और दूसरा प्रतिषेध अर्थात् अभाव को साधनेवाला है। इसीप्रकार अनुपलब्धि रूप हेतु के भी दो भेद हैं। अविरुद्ध-अनुपलब्धि और विरुद्ध-अनुपलब्धि। इनमें पहला निषेध साधक और दूसरा विधि साधक है।

अविरुद्धोपलब्धि के विधि की सिद्धि करनेवाले भेदों का विस्तार से कथन करते हैं ह्न

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढ़ा
व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।।५५

सूत्रार्थ ह्न विधिरूप साध्य के रहने पर अविरुद्ध-उपलब्धिरूप हेतु के छह भेद होते हैं ह्न १. व्याप्य अविरुद्धोपलब्धि हेतु २. कार्य अविरुद्धोपलब्धि हेतु ३. कारण अविरुद्धोपलब्धि ४. पूर्वचर अविरुद्धोपलब्धि ५. उत्तरचर अविरुद्धोपलब्धि और ६. सहचर अविरुद्धोपलब्धि हेतु।

बौद्ध लोग स्वभाव हेतु तथा कार्यहेतु के भेद से विधि-साधक हेतु के दो ही प्रकार मानते हैं। वे कारणरूप हेतु का निषेध करते हैं। उनके इस मन्तव्य को असम्यक् बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ह्न

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव
किंचित्कारणं हेतुर्यत्र
सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।।५६।।

सूत्रार्थ ह्न रस से एक सामग्री के अनुमान द्वारा रूप का अनुमान स्वीकार करनेवाले बौद्धों ने कोई विशिष्ट कारणरूप हेतु माना ही है। जिसमें कि सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं है और दूसरे कारणों से विकलता (अपूर्णता) नहीं है।

व्याख्या ह्न किसी व्यक्ति ने गहन अन्धकार में आम के रस को चखा। वह उसके मीठे रस के स्वाद से सोचता है कि इसका रूप पीला होना चाहिए। यहाँ बौद्ध, रस से एक सामग्री के अनुमान द्वारा रूप का अनुमान करते हैं। जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने भी कारण रूप हेतु को माना है। जहाँ पर कारण की सामर्थ्य किसी मणि-मन्त्रादि से रोक दी जायेगी, अथवा किसी सहकारी कारण की कमी होगी, वहाँ कारण-कार्य का गमक नहीं होगा, अन्यथा तो अवश्य ही होगा।

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने
तदनुपलब्धेः ।।५७।।

सूत्रार्थ ह्न पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का साध्य के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है, अत: स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं होगा तथा तदुत्पत्ति संबंध भी नहीं है, अत: कार्य-हेतु और कारण-हेतु में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों संबंध काल के व्यवधान (अन्तराल) में नहीं होते हैं।

यहाँ बौद्धों का कहना है कि काल के व्यवधान में भी कार्य-कारणभाव देखा ही जाता है, जैसे कि जाग्रतदशा और प्रबुद्धदशाभावी ज्ञान में तथा मरण और अरिष्ट में भी कार्य-कारणभाव देखा जाता है। सूत्रकार उनकी इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ह्न

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।।५८।।

सूत्रार्थ ह्न भावीमरण और अतीत जाग्रत बोध के भी अरिष्ट (अपशकुन) और उद्बोध के प्रति कारणपना नहीं है।

व्याख्या ह्न अरिष्ट अर्थात् अपशकुन रूप में हस्त की तद्विषयक रेखाएँ तथा शरीर की रचना करनेवाले अदृष्टकर्म आदि कारण समूह होते हैं, और वे भावी मरण और राज्यादिक की प्राप्ति के अनुमान करनेवाले होते हैं; परन्तु यह कहा जावे कि भविष्य का मरण वर्तमान अरिष्ट का कारण है, तो अरिष्टरूप उसका कार्य कैसे कहा जावे ? अत: इनमें कारण-कार्य संबंध नहीं माना जा सकता है। इसीतरह से बौद्धों ने रात्रि में सोते समय का ज्ञान प्रात:काल के ज्ञान का कारण माना है, तो जब सोने से पूर्व-समय का ज्ञान नष्ट ही हो गया है, तब वह प्रात:काल के ज्ञान का कारण कैसे कहा जा सकता है ? यद्यपि यहाँ काल का व्यवधान देखा जा रहा है; परन्तु कार्य-कारण संबंध स्थापित नहीं हो रहा है। आचार्य इस विषय में युक्ति देते हैं ह्न

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।।५९।।

सूत्रार्थ ह्न कारण के व्यापार के आश्रित ही कार्य का व्यापार हुआ करता है।

व्याख्या ह्न कार्य-कारण संबंध तो सर्वत्र अन्वय-व्यतिरेक से ही जाना जाता है, और ये दोनों कार्य के प्रति कारण के व्यापार की अपेक्षा में ही घटित होते हैं। जैसे कुम्भकार का घट के प्रति अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है, अर्थात् कुम्भकार के होने पर ही घट की उत्पत्ति होती है। उसके अभाव में नहीं। किन्तु जहाँ कालका अतिव्यवधान होता है, उनमें कारण के व्यापार का आश्रितपना नहीं होता है। अत: न तो सोते समय के ज्ञान और प्रात:काल उठते समय के ज्ञान में कार्य-कारण संबंध है और न ही मरण और अरिष्ट के मध्य में ही है।

सहचर हेतु का स्वभाव हेतु और कार्य हेतु से पार्थक्य ह्न

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।।६०।।

सूत्रार्थ ह्न सहचारी पदार्थ भी परस्पर के परिहार से रहते हैं। अत: सहचर हेतु का स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, तथा वे एकसाथ उत्पन्न होते हैं, अत: उनका कार्य हेतु और कारण हेतु में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। जैसे युगपद उत्पन्न हुए गाय के सींग में कार्य-कारणभाव नहीं; फलों के रूप और रस में कार्य-कारण नहीं है। अत: सहचर हेतु को भिन्न ही मानना चाहिए।

अब क्रम प्राप्त अविरुद्धव्याप्योपलब्धिरूप व्याप्य हेतु का उदाहरण देते हुए अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक शिष्य के लिए प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवों को प्रदर्शित करते हैं :ह्न

परिणामी शब्द:, कृतकत्वात्। य एवं स एवं दृष्टो यथा घट:। कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामीति। यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धय:। कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ।।६१।।

सूत्रार्थ ह्न शब्द परिणमनशील है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह किया जाता है (हेतु) जो कृतक होता है, वह परिणामी देखा जाता है ह्न जैसे घट (अन्वय दृष्टान्त), चूँकि शब्द कृतक है (उपनय) अत: परिणामी है (निगमन) जो परिणामी नहीं होता वह कृतक भी नहीं देखा जाता है, जैसे वन्ध्या स्त्री का पुत्र (व्यतिरेक दृष्टान्त), और शब्द कृतक है (उपनय), इसलिए वह परिणमी है (निगमन)।

जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति में अन्य के व्यापार की अपेक्षा रखता है, वह कृतक कहा जाता है।

अविरुद्ध कार्योपलब्धिरूप हेतु का उदाहरण ह्न

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादे: ।।६२।।

सूत्रार्थ ह्न इस शरीर-धारक प्राणी में बुद्धि है, क्योंकि बुद्धि के कार्य वचन आदिक पाये जाते हैं।

व्याख्या ह्न यहाँ पर बुद्धि साध्य है, और उसका विरोध न करनेवाले व्यक्ति के कार्यरूप वचन की कुशलता व मुख का आकार विशेष यह अपने साध्य की सिद्धि करता है, क्योंकि बुद्धि के अदृश्य रहते हुए उसका

कार्य वचन को देखकर बुद्धि का सत्त्व सिद्ध किया जाता है। अत: वह अविरुद्ध कार्योपलब्धि का उदाहरण है।

अविरुद्ध कारणोपलब्धिरूप हेतु का उदाहरण ह्न

अस्त्यत्रछाया छत्रात् ।।६३।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ छाया है, क्योंकि यहाँ छाया का अविरोधी कारण छत्र मौजूद है।

अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण ह्न

उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात् ।।६४।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ मुहूर्तान्त पद का अध्याहार करना चाहिए। तब इसका अर्थ होगा कि एक मुहूर्त के बाद शकट अर्थात् रोहणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिका नक्षत्र का उदय हो रहा है।

प्रतिदिन क्रम से एक-एक मूहर्त के पश्चात् अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य आदि नक्षत्रों का उदय होता है। जब जिसका उदय विवक्षित हो, तब उसके पूर्ववर्ती नक्षत्र को पूर्वचर और उत्तरवर्ती नक्षत्र को उत्तरचर जानना चाहिए।

अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि का उदाहरण ह्न

उद्गाद् भरणि: प्राक्तत एव ।।६५।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ 'तत एव' पद से कृतिकोदय का अर्थ लेना चाहिए। तदनुसार अर्थ होगा कि एक मुहूर्त के पूर्व ही भरणी का उदय हो चुका है, क्योंकि अभी कृतिका का उदय हो रहा है। यहाँ भरणी से कृतिका नक्षत्र उत्तरचर है।

अविरुद्धसहचरोपलब्धि का उदाहरण ह्न

अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ।।६६।।

सूत्रार्थ ह्न इस मातुलिंग (विजौरा) में रूप है, क्योंकि उसका अविरोधी सहचर रस पाया जा रहा है। यहाँ रूप का अविरुद्ध सहचर रस उपस्थित हो रहा है।

विरुद्धोपलब्धि के भेद ह्न

विरुद्धतदुपलब्धि: प्रतिषेधे तथा ।।६७।।

सूत्रार्थ ह्न प्रतिषेध सिद्ध करनेवाली विरुद्धोपलब्धि के भी छह भेद हैं :- १. विरुद्धव्याप्योलब्धि, २. विरुद्धकार्योपलब्धि, ३. विरुद्ध-कारणोपलब्धि, ४. विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, ५. विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि, ६. विरुद्धसहचरोपलब्धि।

विरुद्ध व्याप्योपलब्धि हेतु का उदाहरण ह्न

नास्त्यत्र शीतस्पर्श: औष्ण्यात् ।।६८।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ पर शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता पायी जाती है।

व्याख्या ह्न प्रस्तुत उदाहरण में शीत के स्पर्श का निषेध किया जा रहा है, क्योंकि उसकी विरोधी अग्नि है और उसमें व्याप्य उष्णता की प्राप्ति हो रही है।

विरुद्ध कार्योपलब्धि का उदाहरण ह्न

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।।६९।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ पर शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।

व्याख्या ह्न यहाँ भी प्रतिषेध के योग्य साध्य जो शीतस्पर्श उसकी विरुद्ध अग्नि और उसका कार्य रूप धूम पाया जा रहा है। यहाँ पर कार्य रूप हेतु की मुख्यता है।

विरुद्ध कारणोपलब्धि का उदाहरण ह्न

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।।७०।।

सूत्रार्थ ह्न इस शरीरधारी प्राणी में सुख नहीं है, क्योंकि हृदय में शल्य पायी जाती है।

यहाँ सुख का विरोधी दु:ख है, उसका कारण हृदय में शल्य की उपलब्धि है।

विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण ह्न

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।।७१।।

सूत्रार्थ ह्न एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी रेवती नक्षत्र का उदय चल रहा है।

व्याख्या ह्न यहाँ पर रोहिणी के उदय का विरोधी अश्विनी का उदय है, उसका पूर्वचर रेवती नक्षत्र है। उसका उदय पाये जाने से यह विरुद्ध-पूर्वचरोपलब्धि का उदाहरण है।

विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि हेतु का उदाहरण ह्न

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।।७२।।

सूत्रार्थ ह्न एक मुहूर्त के पहले भरणि नक्षत्र का उदय नहीं हुआ,क्योंकि पुष्यनक्षत्र का उदय चल रहा है।

व्याख्या ह्न भरणि नक्षत्र के उदय का विरोधी पुनर्वसु का उदय है और उसका उत्तरचर पुष्योदय है, अत: पुष्योदय भरणिनक्षत्र के उदय का विरुद्ध उत्तरचर है।

विरुद्ध सहचरोपलब्धि हेतु ह्न

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ।।७३।।

सूत्रार्थ ह्न इस दीवाल में परभाग का अभाव नहीं है, क्योंकि अर्वाग्भाग अर्थात् इधर का भाग दिखायी दे रहा है।

व्याख्या ह्न यहाँ पर दीवाल के परभाग के अभाव का विरोधी उसका सद्भाव है, क्योंकि उसका सहचारी इस ओर का भाग पाया जाता है।

अविरुद्धानुपलब्धि हेतु के भेद ह्न

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा ह्न
स्वभावव्यापककार्यकारण-
पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ।।७४।।

सूत्रार्थ ह्न प्रतिषेध अर्थात् अभाव को सिद्ध करनेवाले अविरुद्धानुपलब्धि रूप हेतु के सात भेद हैं ह्न १. अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि २. अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि, ३. अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि ४. अविरुद्धकारणानुपलब्धि ५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, ६. अविरुद्धोत्तर-चरानुपलब्धि, ७. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि।

अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण ह्न

नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।।७५।।

सूत्रार्थ ह्न इस भूतल पर घट नहीं है; क्योंकि उपलब्धि योग्य स्वभाव के होने पर भी वह पाया नहीं जा रहा है।

व्याख्या ह्न यहाँ पर यदि यह प्रश्न हो कि इसीप्रकार परमाणु आदिक नहीं हैं, क्योंकि उनकी अनुपलब्धि है तो यह हेतु सन्दिग्धानेकान्तिक है। सम्भव है कि परमाणु आदिक अदृश्य तथा सूक्ष्म स्वभाव होने से अनुपलब्ध हों, क्योंकि नेत्र उनको विषय करनें में असमर्थ है। अत: इस दोष को दूर करने के लिए कहा गया कि घट का स्वभाव तो उपलब्धि के योग्य है, फिर भी घट यहाँ प्राप्त नहीं हो रहा है। अत: यह अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि हेतु ह्न

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।।७६।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ पर शीशम नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं पाया जा रहा है।

व्याख्या ह्न शिंशपात्व वृक्षत्व के साथ व्याप्त है। अत: जब यहाँ पर व्यापक वृक्षत्व का ही अभाव है तो उसके व्याप्य शिंशपात्व का भी अभाव होगा ही। इसप्रकार शिंशपात्व में व्यापक वृक्षत्व के नहीं पाये जाने से यह अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि हेतु ह्न

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ।।७७।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ पर बिना सामर्थ्य रुकी अग्नि नहीं है अर्थात् गीले ईंधन के संयोग होने पर धुएं रूप कार्य को पैदा करने की सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धुआँ की अनुपलब्धि है। अप्रतिहत शक्तिवाली अग्नि का अभाव उसके अविरोधी कार्य धूम के नहीं पाये जाने से सिद्ध है।

अविरुद्ध कारणानुपलब्धि हेतु ह्न

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ।।७८।।

सूत्रार्थ ह्न यहाँ पर धूम नहीं है, क्योंकि धूम के अविरोधीकारण अग्नि का अभाव है। अत: यह अविरुद्ध कारणरूप अनुपलब्धि का उदाहरण है।

अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि हेतु ह्न

न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृतिकोदयानुपलब्धेः ।।७९।।

सूत्रार्थ ह्न एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी (शकट) का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी कृतिका का उदय नहीं पाया जाता है। यहाँ पर रोहिणी के

उदय का अविरोधी पूर्वचर जो कृतिका का उदय है, उसके नहीं पाये जाने से यह अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि हेतु ह्न

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव ।।८०।।

सूत्रार्थ ह्न एक मुहूर्त से पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है, क्योंकि अभी उसके उदय के अविरोधी उत्तचर कृतिका का उदय नहीं पाया जाता है।

यहाँ 'तत एव' पद से कृतिका के उदय की अनुपलब्धि का अर्थ लिया जायेगा।

अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि हेतु ह्न

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ।।८१।।

सूत्रार्थ ह्न इस समान तोलने वाली तराजू में एक ओर ऊँचापन नहीं है, क्योंकि एक ओर के ऊँचेपन का अविरोधी सहचर दूसरी ओर का नीचापन नहीं पाया जाता है।

विरुद्धानुपलब्धि के भेद ह्न

विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा
विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ।।८२।।

सूत्रार्थ ह्न विधि अर्थात् वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करने में विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद हैं :ह्न १. विरुद्धकार्यानुपलब्धि २. विरुद्धकारणानुपलब्धि ३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि।

साध्य से विरुद्ध पदार्थ के कार्य का नहीं पाया जाना विरुद्धकार्यानुपलब्धि है। साध्य से विरुद्ध पदार्थ के कारण का नहीं पाया जाना विरुद्धकारणानुपलब्धि है, तथा साध्य से विरुद्ध पदार्थ के स्वभाव का नहीं पाया जाना विरुद्धस्वभावानुपलब्धि है। ये तीनों ही हेतु अपने साध्य के सद्भाव को सिद्ध करते हैं, अतः इन्हें विधि-साधक कहा गया है।

विरुद्ध कार्यानुपलब्धि हेतु का उदाहरण ह्न

यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति,
निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।।८३।।

सूत्रार्थ ह्न जैसे इस प्राणी में व्याधि विशेष (कोई रोग) है, क्योंकि निरामय (रोग-रहित) चेष्टा नहीं पायी जा रही है।

व्याख्या ह्न 'आमय' रोग को कहते हैं उस आमय के विरुद्ध उसका अभाव निरामय कहलाता है, निरामय का कार्य विशिष्ट चेष्टा है और उसकी अनुपलब्धि होने से रोग के अस्तित्व का अनुमान लग जाया करता है।

विरुद्धकारणानुपलब्धि हेतु का उदाहरण ह्न

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ।।८४।।

सूत्रार्थ ह्न इस जीव में दुःख है, क्योंकि इष्ट संयोग का अभाव है।

व्याख्या ह्न दुख के विरुद्ध सुख होता है और उसका कारण अभीष्ट पदार्थ का संयोग है, उस संयोग का अभाव होने से दुःख का अस्तित्व जाना जाता है।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतु का उदाहरण ह्न

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ।।८५।।

सूत्रार्थ ह्न वस्तु अनेकान्तात्मक होती है, क्योंकि वस्तु के एकांतस्वरूप की अनुपलब्धि है।

व्याख्या ह्न अनेकान्तात्मक साध्य का विरोधी नित्यत्व आदि एकान्त है, न कि एकान्त पदार्थ को विषय करनेवाला ज्ञान, क्योंकि मिथ्याज्ञान के रूप में उसकी उपलब्धि सम्भव है। नित्यादि एकान्तरूप पदार्थ का स्वरूप अवास्तविक है, अतः उसकी अनुपलब्धि है।

हेत्वन्तरों का उपर्युक्त हेतुओं में अन्तर्भाव ह्न

परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ।।८६।।

सूत्रार्थ ह्न परम्परा से जो साधनरूप हेतु सम्भव है, उनका इन ही हेतुओं में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।

अब सूत्रकार उन्हीं हेतुओं के उपलक्षण के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ह्न

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ।।८७।।
कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ।।८८।।

सूत्रार्थ ह्न इस चक्र पर शिवक हो गया है, क्योंकि स्थास पाया जाता है।

व्याख्या **ह्व** कुम्भकार जब गीली चिकनी मिट्टी को घट बनाने के लिए चक्र पर चढ़ाता है, तब उसके क्रमशः शिवक, छत्रक, स्थास आदि नाम वाले आकार बनते हैं, पहले शिवक फिर छत्रक और तत्पश्चात् स्थास आकार है। अतः शिवक का साक्षात् कार्य तो छत्रक है और परम्परा कार्य स्थास है, इसलिए यहाँ स्थास रूप कार्य को कार्यहेतु कहा है।

निषेध रूप साध्य के होने पर कारण-विरुद्ध कार्यहेतु का विरुद्ध कार्योपलब्धि में अन्तर्भाव होता है। जैसे ह्व

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात्।
कारणविरुद्धकार्यं- विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा।।८९।।

सूत्रार्थ **ह्व** इस गुफा में हिरण की क्रीड़ा नहीं है, क्योंकि सिंह की गर्जना हो रही है। यह मृगारिसंशब्दनात् हेतु कारण के विरुद्ध जो कार्य है, उस रूप है, अतः इस हेतु का विरुद्धकार्योपलब्धि नामक हेतु में अन्तर्भाव होगा, क्योंकि हिरण की क्रीड़ा का कारण उसकी निर्भयता है और उसका विरोधी सिंह के गर्जना रूप कार्य है (जो भय को उत्पन्न करता है) अतः यह हेतु विरुद्ध कार्योपलब्धि है।

व्युत्पन्न जनों की अपेक्षा अनुमान के अवयवों के प्रयोग का नियमह्व

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।।९०।।

सूत्रार्थ **ह्व** व्युत्पन्नमति (विद्वान्) पुरुषों के लिए तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु का ही प्रयोग होता है।

व्याख्या **ह्व** विवक्षित साध्य के होने पर ही यह हेतु होता है, ऐसा तथोपपत्ति रूप हेतु प्रयोग अथवा इस साध्य के न होने पर यह हेतु भी नहीं होता ह्व ऐसा अन्यथानुपत्तिरूप हेतु प्रयोग व्युत्पन्नमति के प्रति हुआ करता है। इसी का उदाहरण आगे सूत्रकार देते हैं :ह्व

अग्निमानयं देशस्तथैव
धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्वान्यथानुपपत्तेर्वा।।९१।।

सूत्रार्थ **ह्व** यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि तथैव अर्थात् अग्निवाला होने पर ही धूमवाला हो सकता है, अथवा अग्नि के अभाव में धूमवाला हो नहीं सकता।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि साध्य-साधन के अतिरिक्त दृष्टान्त आदि का प्रयोग भी व्याप्ति के ज्ञान कराने में उपयोगी है, फिर व्युत्पन्न पुरुषों की अपेक्षा से उसके प्रयोग का निषेध क्यों ?

अब सूत्रकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं ह्व

हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरेवाधर्यते।।९२।।

सूत्रार्थ **ह्व** वस्तुतः हेतु का प्रयोग ही उसी तरह का किया जाता है कि जिससे व्याप्ति का ग्रहण हो जावे। अतः वह व्याप्ति उतने मात्र से व्युत्पन्न पुरुषों द्वारा अवधारित अर्थात् निश्चित की जाती है। इसी कारण दृष्टांतादि के प्रयोग से व्याप्ति अवधारण करना आदि कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

साध्य की सिद्धि के लिए दृष्टान्तादिक की विफलता ह्व

तावता च साध्यसिद्धिः।।९३।।

सूत्रार्थ **ह्व** उतने तथोपपत्ति आदि रूप हेतु मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या **ह्व** जिसका विपक्ष में रहना निश्चितरूप से असम्भव है ऐसे हेतु के प्रयोग मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, अतः उसके लिए दृष्टान्तादिक के प्रयोग का कोई प्रयोजन नहीं रहता है।

पक्ष के प्रयोग की सफलता ह्व

तेन पक्षस्तदाधारसूचनायोक्तः।।९४।।

सूत्रार्थ **ह्व** इसी कारण से साध्य के आधार की सूचना करने के लिए पक्ष का प्रयोग करने को कहा है।

इसप्रकार अनुमान के स्वरूप का प्रतिपादन करके अब सूत्रकार क्रमानुसार आगम के स्वरूप का निरूपण करने के लिए सूत्रावतार करते हैं ह्व

आगम का स्वरूप ह्व

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।।९५।।

सूत्रार्थ **ह्व** आप्त के वचनादि कारण हैं जिसमें ऐसे पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं।

व्याख्या **ह्व** 'यो यत्र अवंचकः स तत्र आप्तः' जो जिस विषय में अवंचक (ठग नहीं), है वह उस विषय में आप्त है, इसप्रकार से आप्त की

परिभाषा की गई है। यहाँ वीतरागी सर्वज्ञ आप्त अभिप्रेत है। ऐसे आप्त के वचन आदि के निमित्त से जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह आगम प्रमाण के रूप में माना गया है।

यहाँ 'आप्त वाक्यादि' पाठभेद भी मिलता है, परन्तु 'वचनादि' अधिक तथ्यपरक व युक्तिसंगत है। जैन आप्त के साथ 'वाक्य' शब्द की विसंगति है। वाक्य की परिभाषा प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रभाचन्द्रदेव ने इसप्रकार की है ह्न **''वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्ह्नपदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः वाक्यम्''** अर्थात् परस्पर में सापेक्ष किन्तु वर्णान्तर से निरपेक्ष ऐसा वर्णों का जो समुदाय है, उसको पद कहते हैं तथा वाक्यांतरगत पद से तो निरपेक्ष और परस्पर पदों में सापेक्ष ऐसे पद समूह का नाम वाक्य है। परन्तु आप्त अर्थात् तीर्थंकर केवली की दिव्यध्वनि ओंकार रूप अनक्षरी होने से वह इसतरह के वाक्यात्मक रूप में नहीं है। जबकि 'वचन' शब्द युक्तिसंगत है। वचन शब्द 'वच्' धातु से ल्युट प्रत्यय पूर्वक बना है, जिसका अर्थ है बोलने की क्रिया-वाणी है, तथा इसका एक अर्थ 'शपथ' पूर्वक वर्णन भी है। लोक व्यवहार में भी मैं वचन देता हूँ का व्यवहार प्रसिद्ध ही है। सूत्रकार ने वचनादि शब्द के अक्षरात्मक व अनक्षरात्मक श्रुत दोनों को ही ग्रहण किया है। 'आदि' शब्द से हाथ, अंगुली, मुख आदि के संकेत भी ग्रहण किये हैं अर्थात् वे भी पदार्थ का ज्ञान कराने के कारण हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यदि 'अर्थज्ञानमागमः' ऐसा मात्र कहा जाता है तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि पदार्थों का ज्ञान तो प्रत्यक्षादि से भी होता है। अतः 'वचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः' ऐसा कहा और मात्र इतना ही कहा जाता है, तो किसी भी रथ्यापुरुष, सुप्त व ठग पुरुष के वचन भी प्रमाण हो जाते; अतः 'आप्त' विशेषण दिया है। सूत्र में 'अर्थ' पद बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन करता है।

यहाँ पर विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आप्त के वचन को वास्तविक रूप में प्रमाण का कारण नहीं माना है, क्योंकि वह वाणी तो पौद्गलिक होने से जड़रूप है। अतः प्रमाण कोटि में नहीं आ सकती, परन्तु आप्त के वचन को जो कथंचित् आगम प्रमाण माना गया है, वह तो

कारण में कार्य का उपचार करके माना है। चूँकि वचन श्रवण ज्ञान में निमित्त है, अतः वचन को भी आगम प्रमाण निमित्तादि की अपेक्षा से कह देते हैं, किन्तु यह उपचारमात्र है, वास्तविक तो ज्ञान रूप ही आगम है।

इसप्रकार आप्त पुरुषों द्वारा कहे हुए वचनों को सुनकर पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह आगम प्रमाण है ह्न ऐसा निश्चय होता है।

यहाँ पर बौद्ध कहते हैं कि शब्द और अर्थ के संबंध का अभाव है, अतः आप्त प्रणीत शब्द से वस्तुभूत अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

इस शंका का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि ह्न

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।।९६।।

सूत्रार्थ ह्न शब्द,वर्ण, वचनादि में ऐसी सहज योग्यता है कि जिस योग्यता के कारण तथा संकेत होने के कारण (यह घट है, इस पदार्थ को घट शब्द से पुकारते हैं, इत्यादि संकेत के कारण) वे शब्दादिक अर्थ का ज्ञान कराने में हेतु हो जाते हैं।

व्याख्या ह्न यहाँ पर शब्द और अर्थ की योग्यता का विचार चल रहा है। जैसे ज्ञान और ज्ञेय अथवा प्रमाण व प्रमेय में कार्य-कारण आदि संबंध नहीं पाये जाते, अपितु ज्ञाप्य-ज्ञापक संबंध पाया जाता है। उसी तरह शब्द और अर्थ में भी वाचक-वाच्य संबंध पाया जाता है और इस संबंध के कारण ही घट यह दो अक्षर वाला शब्द कंबुग्रीवादि के विशिष्ट पदार्थ को कहता है। यह कंबु आदि आकार से विशिष्ट घट पदार्थ ही उक्त शब्द द्वारा अवश्य वाच्य होता है, तथा शब्द द्वारा पदार्थ में बार-बार संकेत भी किया जाता है कि, यह गोल ग्रीवादि आकारवाला जो पदार्थ है, इसको घट कहना, घट ऐसा होता है आदि।

इसतरह शब्द की योग्यता के होने पर संकेत होता है, और संकेत शब्दादिक वस्तु के प्रतीति में हेतु हो जाते हैं।

यथामेर्वादयः सन्ति ।।९७।।

सूत्रार्थ ह्न जैसे मेरु पर्वत आदि पदार्थ हैं ह्न ऐसा कहते ही आगमोक्त मेरुपर्वत की प्रतीति हो जाया करती है।

इति तृतीय परिच्छेद।

चतुर्थ परिच्छेद

प्रमाण का विषय ह्न

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।।१।।

सूत्रार्थ ह्न सामान्य और विशेष आत्मा अर्थात् स्वरूप है जिसका ऐसा पदार्थ वह प्रमाण का विषय है।

व्याख्या ह्न अधिकांश दर्शन पदार्थ में सामान्य व विशेष धर्मों का कथन करते हैं। उसमें अद्वैतवादी व सांख्य पदार्थ को मात्र सामान्यात्मक, बौद्ध पदार्थ को विशेषात्मक, परन्तु नैयायिक-वैशेषिक सामान्य को स्वतंत्र ही पदार्थ मानते व विशेष को एक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं, और उनका द्रव्य के साथ समवाय संबंध मानते हैं। इस रूप में प्रमाण के विषयभूत, पदार्थ के विषय में, जो मतभेद हैं, उन सबके निराकरण के लिए सूत्र में सामान्य-विशेषात्मा ऐसा विशेषण दिया है। जिसका अभिप्राय है कि पदार्थ न केवल सामान्यरूप है, न केवल विशेषरूप है और न ही स्वतंत्र उभयरूप ही, अपितु वह उभयात्मक है।

यहाँ पर सामान्य का अभिप्राय द्रव्य से व विशेष का पर्याय से है।

अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन के दो हेतु ह्न

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकार
परिहारावाप्तिस्थिति-लक्षण परिणामेनार्थक्रियोपत्तेश्च ।।२।।

सूत्रार्थ ह्न वस्तु सामान्य-विशेषादि अनेक धर्मवाली है, क्योंकि वह अनुवृत्तप्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्यय की विषय है तथा पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति और स्थिति लक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पायी जाती है।

व्याख्या ह्न 'यह गौ है' यह भी गौ है इसप्रकार की सदृश्य आकारवाली प्रतीति को अनुवृत्त प्रत्यय (ज्ञान) कहते हैं। यह गाय काली है, यह चितकबरी है, इसप्रकार की विशेष आकारवाली प्रतीति को व्यावृत्तप्रत्यय कहते हैं। इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों का गोचर अर्थात् विषय होना, उसके

भाव को अनुवृत्त-व्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्व कहते हैं। इस प्रथम हेतु के द्वारा तिर्यक् सामान्य व व्यतिरेक लक्षण विशेष सहित धर्मवाली वस्तु की सिद्धि की है। इससे पदार्थ 'अनेकान्तात्मक' सिद्ध होता है।

पूर्व आकार के परिहार को व्यय कहते हैं और उत्तर आकार की प्राप्ति को उत्पाद कहते हैं। इन दोनों उत्पाद और व्यय के साथ वस्तु की जो स्थिति है, उसे ध्रौव्य कहते हैं। इन तीनों लक्षणों से युक्त परिणाम से अर्थ-क्रिया बन जाती है। इस दूसरे हेतु के द्वारा ऊध्वर्तासामान्य और पर्याय नामक विशेष इन दोनों धर्मवाली वस्तु की सिद्धि होती है।

सामान्य के भेद ह्न

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।।३।।

सूत्रार्थ ह्न तिर्यक् सामान्य व ऊर्ध्वता सामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का होता है।

तिर्यक् सामान्य का स्वरूप व उदाहरण ह्न

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।।४।।

सूत्रार्थ ह्न सदृश अर्थात् सामान्य परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे खण्डी-मुण्डी आदि गायों में गायपना समानरूप से रहता है।

ऊर्ध्वता सामान्य का स्वरूप व उदाहरण ह्न

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।।५।।

सूत्रार्थ ह्न पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहनेवाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं, जैसे स्थास, कोश, कुसूल आदि घट की विभिन्न पर्यायों में मिट्टी रहती है।

व्याख्या ह्न काल क्रम से होनेवाली पर्यायों में व्याप्त होकर रहने को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। काल सदैव आगे की ओर अर्थात् ऊपर की ओर चलता है, इस अपेक्षा से इसका ऊर्ध्वता सामान्य रूप में नामकरण किया है। (इसके विवेचन में हाथ ऊपर की ओर उठता है, इस रूप में ऊर्ध्वता सामान्य के स्वरूप को समझा जा सकता है। इसी तरह तिर्यक्

सामान्य के स्वरूप विवेचन में हाथ तिरछा होकर चलता है, यह परस्पर लौकिक दृष्टि से विवेचन की अपेक्षा भेद है।)

अब विशेष के भेद कहते हैं ह्न

विशेषश्च ।।६।।

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।।७।।

सूत्रार्थ ह्न और विशेष के भी दो भेद हैं। पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष।

पर्याय विशेष का स्वरूप व उदाहरण ह्न

एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविन: परिणामा: पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ।।८।।

सूत्रार्थ ह्न एक द्रव्य में क्रम से होनेवाले परिणामों को पर्याय कहते हैं ह्न जैसे आत्मा में हर्ष और विषाद आदि परिणाम क्रम से होते हैं। ये ही पर्याय विशेष कहलाते हैं।

व्यतिरेक विशेष का स्वरूप व उदाहरण ह्न

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।।९।।

सूत्रार्थ ह्न एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहनेवाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं। जैसे गाय-भैंस आदि में विभिन्नता पायी जाती है।

इति चतुर्थ परिच्छेद।

पंचम परिच्छेद

प्रमाण का फल ह्न

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।।१।।

सूत्रार्थ ह्न अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा ये प्रमाण के फल हैं।

व्याख्या ह्न फल दो प्रकार का होता है ह्न १. साक्षात् २. परम्परा। वस्तु के जानने के साथ ही तत्काल मिलनेवाला साक्षात् फल है। पहले किसी प्रमाण से न जानी हुई वस्तु को जब हम जानते हैं, तब तत्काल ही उस विषय का अज्ञान दूर होता है। यही अज्ञान की निवृत्ति रूप साक्षात् फल है।

जो फल तत्काल न मिले कालान्तर में परम्परा से मिले वह परम्परा फल हैं। वह हान, उपादान और उपेक्षा के भेद से तीन प्रकार का है। जानने के पश्चात् अनिष्ट या अहितकर वस्तु के त्याग करने को हान, इष्ट या हितकर वस्तु के स्वीकार करने को उपादान तथा जो पदार्थ न हितकर है, न अहितकर; उन्हें जानने पर न ही उनका ग्रहण करना न ही त्याग। उनके प्रति सहज उदासीन रहना ह्न यह उपेक्षा कहलाता है।

यह प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है या अभिन्न, इस शंका के निराकरण के लिए सूत्रकार कहते हैं ह्न

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।।२।।

सूत्रार्थ ह्न वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है, और कथंचित् भिन्न है।

कथंचित् अभेद के प्रदर्शन के लिए सूत्रकार कहते हैं कि ह्न

य: प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीते: ।।३।।

सूत्रार्थ ह्न जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है, उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इसप्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि, प्रमाण से फल कथंचित् अभिन्न है।

प्रमाण और उसके फल की भेद प्रतीति होती है, इसलिए दोनों भिन्न हैं।

इति पंचम परिच्छेद।

षष्ठ परिच्छेद

आभासों का स्वरूप ह्न

ततोऽन्यत्तदाभासम् ।।१।।

सूत्रार्थ ह्न उनसे अर्थात् ऊपर जिनका वर्णन किया गया है, ऐसे प्रमाण का स्वरूप, संख्या, विषय और फल से अन्य अर्थात् विपरीत को तदाभास कहते हैं।

यथार्थ स्वरूप से रहित होने पर भी उन जैसे प्रतिभासित होनेवाले स्वरूपादि को तदाभास कहते हैं।

अब सूत्रकार क्रमप्राप्त स्वरूपाभास को बतलाते हैं ह्न

अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादय: प्रमाणाभासा: ।।२।।

सूत्रार्थ ह्न अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय ज्ञान प्रमाणाभास है।

व्याख्या ह्न जो ज्ञान अपने आपके द्वारा अपने स्वरूप को नहीं जानता है, उसे अस्वसंविदित ज्ञान कहते हैं। किसी यथार्थ ज्ञान के द्वारा पहले जाने हुए पदार्थ के पुन: जाननेवाले ज्ञान को गृहीतार्थ ज्ञान कहते हैं, इसमें अज्ञान की निवृत्तिरूप कोई फल नहीं पाया जाता; अत: प्रमाणाभास है। यह घट है, यह पट है, इत्यादि विकल्प से रहित निर्विकल्परूप ज्ञान को दर्शन कहते हैं। परस्पर विरोधी दो पक्षों को विषय करनेवाले ज्ञान को संशय कहते हैं। वस्तु के अन्यथा जानने को विपर्यय कहते हैं। वस्तु का यथार्थ ही निश्चय न होकर कुछ है ह्न इसप्रकार के अनिश्चित ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। ये सभी प्रमाण के स्वरूपाभास हैं, क्योंकि ये प्रमाण के यथार्थ स्वरूप से रहित हैं।

उपर्युक्त ज्ञानों में प्रमाणाभास होने में हेतु ह्न

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।।३।।

सूत्रार्थ ह्न उपर्युक्त ज्ञान प्रमाणाभास इसलिए हैं, क्योंकि वे अपने विषय का निश्चय नहीं कराते हैं।

इसी बात को सूत्रकार दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ।।४।।

सूत्रार्थ ह्न अस्वसंविदित ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह अपने विषय का निश्चय नहीं करता है, जैसे दूसरे पुरुष का ज्ञान। गृहीतार्थ ज्ञान, प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह भी अपने विषय-विशेष का ज्ञान नहीं कराता, जैसे पूर्व में जाने हुए पदार्थ का ज्ञान। निर्विकल्प दर्शन प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह भी अपने विषय का निश्चय नहीं करता, जैसे चलते हुए पुरुष के तृणस्पर्शादि का ज्ञान। संशयादिक भी प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि वे भी अपने विषय का निश्चय नहीं कराते जैसे कि यह स्थाणु है या पुरुष, इत्यादि ज्ञान।

सन्निकर्ष के प्रामाण्य का निषेध ह्न

चक्षुरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ।।५।।

सूत्रार्थ ह्न द्रव्य में चक्षु और रस के संयुक्त समवाय के समान।

व्याख्या ह्न जिसप्रकार द्रव्य में चक्षु और रस का संयुक्त समवाय होता हुआ भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानरूप फल को उत्पन्न नहीं करता। उसीप्रकार द्रव्य में चक्षु और रूप का संयुक्त समवाय भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह भी ज्ञानरूप फल को पैदा नहीं करता। अत: यह सन्निकर्ष भी प्रमाणाभास ही है।

प्रत्यक्षाभास का स्वरूप ह्न

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्
धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ।।६।।

सूत्रार्थ ह्न बौद्ध का अविशदरूप निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है, जैसे कि अकस्मात् धूम के देखने से उत्पन्न हुआ अग्नि का ज्ञान अनुमानाभास है, क्योंकि ये दोनों ही अपने विषयभूत पदार्थ का निश्चय नहीं कराते हैं।

व्याख्या ह्न अनुमान के पाँच अवयव हैं ह्न पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय

व निगमन। इन अवयवों के आभासों को बतलाने से ही समुदायरूप अनुमानाभास हो जाता है।

परोक्षाभास का स्वरूप ह्न

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ।।७।।

सूत्रार्थ ह्न विशद ज्ञान को भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानते हैं। उनकी यह मान्यता परोक्षाभास है।

स्मरणाभास का स्वरूप ह्न

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ।।८।।

सूत्रार्थ ह्न जिसका पूर्व में कभी धारणा रूप से अनुभव नहीं किया, उसमें 'वह है' इसप्रकार के ज्ञान को स्मरणाभास कहते हैं। जैसे जिनदत्त में वह देवदत्त है, ऐसा स्मरण करना।

प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप ह्न

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।।९।।

सूत्रार्थ ह्न एक जैसे सदृश पदार्थ में 'यह वही है' इस तरह कहना, उसी पदार्थ में यह उसके समान है ऐसा कहना। जैसे एक साथ जन्में हुए दो बच्चों में भ्रम से विपरीत ज्ञान हो जाता है, इसे ही प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं।

तर्काभास का स्वरूप ह्न

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ।।१०।।

सूत्रार्थ ह्न अविनाभाव सम्बन्ध से रहित पदार्थ में अविनाभाव-संबंध का ज्ञान करना तर्काभास है। जिसप्रकार किसी स्त्री विशेष के पुत्रों की श्यामपने के साथ व्याप्ति नहीं है, फिर भी उसके गर्भस्थ शिशु के संबंध में कहना कि वह पुत्र होगा और श्यामवर्ण होगा।

अनुमानाभास का स्वरूप ह्न

इदमनुमानाभासम् ।।११।।

सूत्रार्थ ह्न यह अनुमानाभास है, जो अब आगे कहा जायेगा।

इनमें प्रथम पक्षाभास का स्वरूप ह्न

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ।।१२।।

सूत्रार्थ ह्न उनमें अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्ष बनाना पक्षाभास है।

अनिष्टपक्षाभास का उदाहरण ह्न

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ।।१३।।

सूत्रार्थ ह्न मीमांसक का यह कहना कि शब्द अनित्य है ह्न यह अनिष्ट पक्षाभास है, क्योंकि मीमांसक मत में शब्द नित्य है।

सिद्धपक्षाभास का उदाहरण ह्न

सिद्धः श्रावणः शब्दः ।।१४।।

सूत्रार्थ ह्न शब्द कानों से सुना जाता है यह कथन सिद्धपक्षाभास है, क्योंकि स्वयंसिद्ध बात को पक्ष बनाना व्यर्थ है।

बाधितपक्षाभास ह्न

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।।१५।।

सूत्रार्थ ह्न बाधित पक्षाभास प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनों से बाधित होने के कारण पाँच प्रकार का है।

प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास का दृष्टान्त ह्न

तत्रप्रत्यक्षबाधितो यथा ह्न अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।।१६।।

सूत्रार्थ ह्न उनमें से प्रत्यक्ष-बाधित पक्षाभास का उदाहरण ह्न जैसे अग्नि उष्णता रहित अर्थात् शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है। जो द्रव्य होता है, वह शीतल होता है, जैसे जल।

यहाँ पर चूंकि स्पार्शन-प्रत्यक्ष से अग्नि उष्णस्पर्शवाली ही अनुभव की जाती है, अतः यह प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास का दृष्टान्त है।

अनुमानबाधित पक्षाभास का दृष्टान्त ह्न

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ।।१७।।

सूत्रार्थ ह्न शब्द अपरिणामी अर्थात् नित्य होता है, क्योंकि वह कृतक है। जो दूसरे के द्वारा किया जाता है, वह अपरिणामी होता है, जैसे घट।

यहाँ पर 'शब्द अपरिणामी' है, यह पक्ष 'कृतकत्वाद्' इस हेतु से बाधित है, कारण कि कृतक हेतु से तो परिणामीपने की ही सिद्धि होती है। अतः यह अनुमानबाधित पक्षाभास का उदाहरण है।

आगमबाधित पक्षाभास का दृष्टान्त ह्व

प्रेत्यासुखदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।।१८।।

सूत्रार्थ ह्व धर्म परलोक में दुःख देनेवाला होता है, कारण कि वह पुरुष के आश्रित होता है। जो पुरुष के आश्रित होता है, वह दुःखदायी होता है, जैसे अधर्म।

यहाँ पर पुरुष के आश्रितपना समान होने पर भी आगम में धर्म को परलोक में सुख का कारण कहा गया है।

लोकबाधित पक्षाभास का दृष्टान्त ह्व

शुचि नरशिरः कपालं, प्राण्यंगत्वाच्छंखशुक्तिवत् ।।१९।।

सूत्रार्थ ह्व मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र है, क्योंकि वह प्राणी का अंग है। जो प्राणी का अंग होता है, वह पवित्र होता है जैसे शंख-सीप आदि।

व्याख्या ह्व वस्तु स्वरूप की दृष्टि से प्राणी का अंग समान होने पर भी लोक व्यवहार में किसी वस्तु को पवित्र माना है, व किसी को अपवित्र ही माना गया है। लोक में कपाल को अपवित्र माना जाता है, और यहाँ इसकी पवित्रता को पक्ष बनाया है; अतः यह लोकबाधित पक्षाभास है।

स्ववचनबाधित पक्षाभास का दृष्टान्त ह्व

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।।२०।।

सूत्रार्थ ह्व मेरी माता वन्ध्या (बाँझ) है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है ह्व जैसे कि प्रसिद्ध वन्ध्या स्त्री।

व्याख्या ह्व जिसके पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता, वह वन्ध्या कहलाती है। यह स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण है, क्योंकि माता भी कह रहा है और उसी को वन्ध्या भी।

हेत्वाभास का स्वरूप ह्व

हेत्वाभास असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराः ।।२१।।

सूत्रार्थ ह्व असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर ये चार हेत्वाभास के भेद हैं।

असिद्धहेत्वाभास के भेद व स्वरूप ह्व

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।।२२।।

सूत्रार्थ ह्व जिस हेतु की सत्ता का ही अभाव हो अथवा उस हेतु का ही निश्चय न हो सके, वह असिद्ध-हेत्वाभास है।

यह हेत्वाभास दो प्रकार का होता है ह्व १. स्वरूपासिद्ध २. सन्दिग्धासिद्ध।

स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का दृष्टान्त ह्व

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।।२३।।

सूत्रार्थ ह्व जिस हेतु की स्वरूप से ही सत्ता अविद्यमान है, उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं; जैसे शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चाक्षुष अर्थात् चक्षु से जाना जाता है।

वही कहते हैं ह्व

स्वरूपेणासत्त्वात् ।।२४।।

सूत्रार्थ ह्व क्योंकि शब्द के चाक्षुषपना स्वरूप से ही असिद्ध है। शब्द का तो स्वरूप ही यह है कि वह कानों से जाना जावे उसे चाक्षुष (चक्षुरिन्द्रिय का विषय) कहना स्वरूपासिद्ध है।

सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण ह्व

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।।२५।।

सूत्रार्थ ह्व मुग्धबुद्धि अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति से यह कहना कि यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है, यह अविद्यमान निश्चयवाले सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है।

इस हेतु की असिद्धता का कारण ह्न

तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ।।२६।।

सूत्रार्थ ह्न क्योंकि उसे भूतसंघात (चूल्हे से तत्काल उतारे हुए पात्र) में वाष्प आदि के रूप से सन्देह हो जाता है।

व्याख्या ह्न जिसे धुएँ के स्वरूप का निर्णय नहीं है, ऐसे मूर्ख अज्ञानी को धुएँ जैसे दिखाई देने वाले पदार्थों में धुएँ का सन्देह हो सकता है; अतः यह सन्दिग्धासिद्ध है।

असिद्ध हेत्वाभास का भेदान्तर ह्न

सांख्यम्प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।।२७।।

सूत्रार्थ ह्न सांख्य के प्रति यह कथन कि शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह किया जाता है। यह हेतु सांख्य के लिए असिद्ध ही है।

इस हेतु की असिद्धता में कारण ह्न

तेनाज्ञातत्वात् ।।२८।।

सूत्रार्थ ह्न क्योंकि सांख्य कृतकपना मानता ही नहीं है।

व्याख्या ह्न सांख्यदर्शन पदार्थों का आविर्भाव और तिरोभाव ही मानता है, पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानता है, कारण कि वह नित्य एकान्तवादी है। इसलिए कृतकपना हेतु के अज्ञात होने से, उसके लिए यह हेतु प्रयुक्त करना असिद्ध हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास का स्वरूप व उदाहरण ह्न

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।।२९।।

सूत्रार्थ ह्न साध्य के विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास का स्वरूप ह्न

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।।३०।।

सूत्रार्थ ह्न जिसका विपक्ष में भी रहना अविरुद्ध है अर्थात् जो हेतु पक्ष, सपक्ष के समान विपक्ष में भी बिना किसी विरोध के रहता है, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।

व्याख्या ह्न हेतु का पक्ष और सपक्ष में रहना तो गुण है, परन्तु विपक्ष में रहना दोष है, जिसे अनैकान्तिक दोष नाम से कहा गया है। इसके दो भेद हैं ह्न १. निश्चितविपक्षवृत्ति २. शंकित विपक्षवृत्ति।

निश्चितविपक्षवृत्ति ह्न

निश्चितविपक्षवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत् ।।३१।।

सूत्रार्थ ह्न शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है। जो प्रमेय होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट। यहाँ प्रमेयत्व हेतु पक्ष रूप 'शब्द', सपक्ष रूप घट में तो रहता ही है, परन्तु विपक्ष में भी रहना उसका निश्चित है।

कैसे है ? इसके लिए सूत्रकार कहते हैं ह्न

व्याख्या ह्न इसप्रकार यहाँ प्रमेयत्व हेतु अनित्य शब्दरूप पक्ष के साथ नित्य आकाशरूप विपक्ष में भी निश्चित ही रहता है, अतः यह निश्चित विपक्ष वृत्ति का उदाहरण है।

आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।।३२।।

सूत्रार्थ ह्न क्योंकि नित्य आकाश में भी इस प्रमेयत्व हेतु के रहने का निश्चय है।

शंकितविपक्षवृत्ति ह्न

शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।।३३।।

सूत्रार्थ ह्न सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है अर्थात् बोलनेवाला है।

यहाँ वक्तृत्व हेतु का विपक्ष में रहना शंकित कैसे है ? एतदर्थ सूत्रकार कहते हैं ह्न

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।।३४।।

सूत्रार्थ ह्न क्योंकि सर्वज्ञपने के साथ वक्तापने का कोई विरोध नहीं है।

किसी पुरुष विशेष में वक्तापना भी रह जाये और सर्वज्ञपना भी रह जावे, इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास का स्वरूप ह्व

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्कर: ।।३५।।

सूत्रार्थ ह्व साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर दिया गया हेतु अकिंचित्कर हेत्वाभास कहलाता है।

इसका उदाहरण सूत्रकार देते हैं ह्व

सिद्ध: श्रावण: शब्द: शब्दत्वात् ।।३६।।

सूत्रार्थ ह्व शब्द श्रावण है अर्थात् श्रवणइन्द्रिय का विषय है; क्योंकि वह शब्द है।

'शब्दत्व' हेतु की अकिंचित्करता का कारण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं ह्व

किंचिदकरणात् ।।३७।।

सूत्रार्थ ह्व क्योंकि इस अनुमान में शब्दत्वहेतु ने कुछ भी नहीं किया है।

व्याख्या ह्व शब्द को कान से सुना जाता है ह्व यह तो पहले से ही जगप्रसिद्ध है, फिर उससे सिद्ध करने का क्या लाभ ? और उसे यहाँ साध्य बनाया है, अत: हेतु व्यर्थ है।

शब्दत्व हेतु की अकिंचित्करत्व की पुष्टि ह्व

यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किंचित्कर्तुमशक्यत्वात् ।।३८।।

सूत्रार्थ ह्व जैसे, अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य है ह्व इत्यादि अनुमान में प्रयुक्त यह हेतु साध्य की कुछ भी सिद्धि करने के लिए समर्थ नहीं है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास के प्रयोग की उपयोगिता ह्व

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्न प्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।।३९।।

सूत्रार्थ ह्व यह अकिंचित्कर हेत्वाभासरूप दोष हेतु के लक्षण प्रतिपादन काल में ही है, वादकाल में नहीं; क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषों का प्रयोग पक्ष के दोषों से ही दुष्ट हो जाता है।

अन्वयदृष्टान्ताभास के भेद ह्व

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभया: ।।४०।।

सूत्रार्थ ह्व अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं ह्व १. असिद्ध साध्य या साध्य विकल २. असिद्ध साधन या साधनविकल ३. असिद्धोभय या उभयविकल।

अन्वय दृष्टान्ताभासों के उदाहरण ह्व

अपौरुषेय: शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।।४१।।

सूत्रार्थ ह्व शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त है। जैसे इन्द्रिय सुख, परमाणु और घट।

व्याख्या ह्व उपर्युक्त सूत्र में अन्वय दृष्टान्ताभासों के भेदों का क्रमश: उदाहरण दिया जा रहा है। 'इन्द्रिय सुख' दृष्टान्त असिद्ध साध्य है, क्योंकि वह अपौरुषेय है ही नहीं वह तो पौरुषेय है। इसमें अपौरुषेयरूप साध्य का ही अभाव है। 'परमाणु' यह दृष्टान्त असिद्ध साधन या साधन विकल है, क्योंकि परमाणु मूर्त है, अर्थात् इसमें अमूर्तरूप साधन नहीं पाया जाता। 'घट' यह दृष्टान्त असिद्धोभय है, कारण कि घट पौरुषेय भी है और मूर्त भी है।

अन्वयदृष्टान्ताभास का अन्य उदाहरण ह्व

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।।४२।।

सूत्रार्थ ह्व पूर्वोक्त अनुमान में 'जो अपौरुषेय होता है, वह अमूर्त होता है', इसप्रकार की विपरीत अन्वय-व्याप्ति को दिखलाना विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है और इसका कारण सूत्रकार बतलाते हैं कि ह्व

विद्युदादिनाऽतिप्रसंगात् ।।४३।।

सूत्रार्थ ह्व क्योंकि उसमें विद्युत आदि के साथ अतिप्रसंग दोष आता है।

व्याख्या ह्व 'जो अपौरुषेय हो वह अमूर्त हो' ऐसी विपरीत अन्वय-व्याप्ति के मानने पर विद्युत के भी अमूर्त्तता की प्राप्ति होती है, अर्थात् बिजली को भी अमूर्त मानना चाहिए, परन्तु वह अपौरुषेय होती हुई भी अमूर्त नहीं, किन्तु मूर्त है।

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास ह्न

व्यतिरेकऽसिद्धतद्व्यतिरेका: परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।।४४।।

सूत्रार्थ ह्न व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के भी तीन भेद हैं ह्न असिद्धसाध्य व्यतिरेक, असिद्धसाधन व्यतिरेक और असिद्धोभय व्यतिरेक। इनके उदाहरण क्रमश: परमाणु, इन्द्रिय सुख और आकाश हैं।

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का अन्य उदाहरण ह्न

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ।।४५।।

सूत्रार्थ ह्न पूर्वोक्त अनुमान में 'जो अमूर्त नहीं है वह अपौरुषेय नहीं है' इसप्रकार से विपरीत व्यतिरेक-व्याप्ति को दिखाना भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है।

व्यतिरेक व्याप्ति में सर्वत्र साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाता है, परन्तु यहाँ विपरीत रूप से अर्थात् साधन के अभाव में साध्य का अभाव बतलाया गया है।

बालप्रयोगाभास का लक्षण ह्न

बालप्रयोगाभास: पंचावयवेषुकियद्धीनता ।।४६।।

सूत्रार्थ ह्न अनुमान के पंच अवयव प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन में से कितने ही कम अवयवों का प्रयोग करना बालप्रयोगाभास है, क्योंकि इससे बालबुद्धि को सच्चा व स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकेगा।

बालप्रयोगाभास का उदाहरण ह्न

अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्वाद्यदित्थं तदित्थं यथा महानस: ।।४७।।

सूत्रार्थ ह्न यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है। जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला भी होता है, जैसे रसोईघर।

यहाँ पर उपनय व निगमन का प्रयोग न करने से बालप्रयोगाभास है तथा उपनय का भी प्रयोग करे, तो सूत्रकार कहते हैं ह्न

धूमवांश्चायमिति वा ।।४८।।

सूत्रार्थ ह्न अथवा उपनय का भी प्रयोग करना कि 'यह धूमवाला है, तो भी बालप्रयोगाभास है।

विपरीत प्रयोग से भी बालप्रयोगाभास ह्न

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम् ।।४९।।

सूत्रार्थ ह्न इसलिए यह अग्निवाला है और यह भी धूमवाला है।

यहाँ पर पहले निगमन का प्रयोग किया, फिर उपनय का प्रयोग किया। अत: बालप्रयोगाभास है। इसका कारण सूत्रकार कहते हैं कि ह्न

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।।५०।।

सूत्रार्थ ह्न पाँच अवयवों में से कम प्रयोग करने पर या विपरीत करने पर शिष्यादि को प्रकृत वस्तु का सही ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिए उन्हें बाल प्रयोगाभास कहते हैं।

आगमाभास का स्वरूप ह्न

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।।५१।।

सूत्रार्थ ह्न राग, द्वेष और मोह से युक्त पुरुष के वचन से उत्पन्न हुए पदार्थ के ज्ञान को आगमाभास कहते हैं।

आगमाभास का उदाहरण ह्न

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशय: सन्ति, धावध्वं माणवका: ।।५२।।

सूत्रार्थ ह्न जैसे ह्न हे बच्चो ! दौड़ो, नदी के किनारे मोदकों (लड्डू) के ढेर पड़े हुए हैं।

व्याख्या ह्न कोई पुरुष बच्चों से बहुत परेशान था। अत: उनसे पीछा छुड़ाने के उद्देश्य से छलपूर्वक उपर्युक्त वचन कहकर नदी के किनारे भेज दिया, परन्तु नदी के किनारे मोदक नहीं थे। अत: यह वचन मोह से युक्त होने के कारण आगमाभास है।

आगमाभास का दूसरा उदाहरण ह्न

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।।५३।।

सूत्रार्थ ह्न अंगुली के अग्रभाग पर हाथियों के सैंकड़ों समूह रहते हैं। यह कथन भी आगमाभास है।

व्याख्या ह्न सांख्य प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध सभी वस्तुएँ सर्वत्र विद्यमान हैं, ऐसा प्रमाण मानते हुए उक्त प्रकार से उपदेश देते हैं, किन्तु उनका यह कथन भी अनाप्त पुरुष के वचन रूप होने से आगमाभास है।

पूर्वोक्त दृष्टान्तों में आगमाभास होने का हेतु ह्न

विसंवादात् ।।५४।।

सूत्रार्थ ह्न विसंवाद होनेसे उपर्युक्त वचन आगमाभास है।

व्याख्या ह्न आगम प्रमाण का एक भेद है और प्रमाण का अविसंवाद रूप लक्षण स्वीकृत किया गया है। उपरोक्त वचनों में तो प्रत्यक्ष से ही विसंवाद है, आत्म आगमाभास है। जिन पुरुषों के वचनों में विवाद विसंवाद पूर्वा पर विरोध का विपरीत-अर्थप्रतिपादकपना पाया जाता है, वे वचन आगम स्वरूप नहीं हैं।

प्रमाणसंख्याभास का वर्णन ह्न

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।।५५।।

सूत्रार्थ ह्न प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है, इत्यादि कथन संख्याभास है।

प्रत्यक्षमात्रप्रमाण के संख्याभासत्व का स्पष्टीकरण ह्न

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षत: परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।।५६।।

सूत्रार्थ ह्न लौकायतिक अर्थात् चार्वाक का केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना संख्याभास है। प्रत्यक्ष से परलोक आदि का निषेध और पर की बुद्धि आदि की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि वे उसके विषय नहीं बन सकते हैं, और जो जिसका विषय नहीं, वह उसका खण्डन व मण्डन नहीं कर सकता है।

बौद्धादि की संख्या का भी खण्डन ह्न

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमाना-र्थापत्याभावैरेकैकाधिकै: व्याप्तिवत् ।।५७।।

सूत्रार्थ ह्न जिसप्रकार सौगत, सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ह्न इन एक-एक अधिक प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

(इसीप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से भी चार्वाक अन्य मनुष्य की बुद्धि आदिक का निर्णय नहीं कर सकते हैं।)

अन्य प्रमाण से दूसरे की बुद्धि की सिद्धि का खण्डन ह्न

अनुमानादेरेतद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।।५८।।

सूत्रार्थ ह्न अनुमानादि को पर-बुद्धि आदि का विषयपना मानने पर अन्य प्रमाणों के मानने का प्रसंग प्राप्त होता है।

इसी बात को सूत्रकार उदाहरण देकर आगे सिद्ध कर रहे हैं।

तर्क को अप्रमाण मानकर संख्याभासत्व के निराकरण से हानि ह्न

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापक-त्वात् ।।५९।।

सूत्रार्थ ह्न जैसे कि तर्क को व्याप्ति का विषय करनेवाला मानने पर सौगतादिक को उसे एक भिन्न प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि अप्रमाण ज्ञान पदार्थ की व्यवस्था नहीं कर सकता है।

प्रमाण के अनुमानादि भेद प्रतिभास के भेद से अर्थात् उनकी सामग्री और स्वरूप के भेद से कहने ही पड़ते हैं, कारण कि उनके स्वीकार बिना कोई उपाय नहीं है। इसी बात को सूत्रकार कहते हैं ह्न

प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।।६०।।

सूत्रार्थ ह्न प्रतिभास का भेद ही प्रमाणों का भेदक होता है।

व्याख्या ह्र पदार्थ के स्वरूप का प्रतिभास अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप से अनुभूयमान ज्ञान जितने तरह से होगा, उतने ही उसके भेद विकल्प होंगे। इसीकारण तो अनुमानज्ञान की अलग तरह से प्रतीति होने से चार्वाक की संख्या तथा तर्क ज्ञान का अन्य तरह से अनुभव होने पर बौद्धों की प्रमाण संख्या स्वत: खण्डित हो ही जाती है।

प्रमाण विषयाभास का स्वरूप ह्र

विषयाभास: सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतंत्रम् ।।६१।।

***सूत्रार्थ* ह्र** मात्र सामान्य को अथवा मात्र विशेष को अथवा स्वतंत्र रूप से दोनों को प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है।

व्याख्या ह्र सांख्य-दर्शन द्रव्य के मात्र सामान्य पक्ष को ही प्रमाण का विषय कहता है, जबकि बौद्ध द्रव्य के विशेष रूप पर्याय पक्ष को प्रमाण का विषय मानता है, तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन तो सामान्य और विशेष को स्वतंत्र रूप से अलग-अलग पदार्थ मानकर उन्हें प्रमाण का विषय कह रहा है; परन्तु सूत्रकार तो स्पष्टतया पूर्व के अध्याय में सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय सिद्ध कर ही आये हैं।

उपर्युक्त मान्यताओं के विषयाभास होने का औचित्य ह्र

तथाऽप्रतिभासात्कार्याकरणाच्च ।।६२।।

सूत्रार्थ ह्र तथा अर्थात् मात्र सामान्यरूप से अथवा विशेषरूप से अथवा स्वतंत्र दोनों रूप से वस्तु का प्रतिभास तो होता ही नहीं है, और उस रूप में पदार्थ अपना कार्य भी नहीं कर सकते हैं, इसलिए वे विषयाभास हैं।

स्वतंत्र समर्थ पदार्थ के निरपेक्ष कार्यकारित्व मानने में आपत्ति ह्र

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।।६३।।

सूत्रार्थ ह्र यदि वह सर्वथा एकान्तात्मक पदार्थ समर्थ होता हुआ कार्य करेगा, तो कार्य की उत्पत्ति सर्वदा ही होनी चाहिए ? क्योंकि वह किसी दूसरे की अपेक्षा ही नहीं रखता, जिससे कि सर्वदा कार्य की उत्पत्ति न हो सके।

यहाँ यदि यह कहा जावे कि वह पदार्थ सहकारी कारणों के मिल जाने से उस कार्य को करता है, इसलिए कार्य की सर्वदा उत्पत्ति नहीं होती तो आचार्य उत्तर देते हैं ह्र

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।।६४।।

सूत्रार्थ ह्र दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर तो पदार्थ के परिणामीपना प्राप्त हो जाता है और ऐसा नहीं मानने पर पदार्थ के कार्य करने का ही अभाव हो जायेगा।

व्याख्या ह्र यहाँ सूत्रकार कहते हैं कि सर्वथा एकान्तात्मक सामान्य पदार्थ सहकारी कारणों के सान्निध्य मात्र से विशेष रूप कार्य को नहीं कर सकता है, उसे उसकी अपेक्षा भी होनी चाहिए जैसे मिट्टी के पिण्डरूप दशा में घड़े का अभाव था (इसी को प्रागभाव कहते हैं।) और कुम्भकार चक्र आदि के मिल जाने पर भी उस घट रूप कार्य की अपेक्षा (उस सामान्य द्रव्य को विशेष रूप पर्याय की अपेक्षा) होने पर वह मिट्टी-पिण्ड घट रूप कार्य से परिणमित हो जाता है, तो उस समय यह कहा जाएगा कि घट परिणामी है; क्योंकि उसने अपनी मिट्टी के पिण्डरूप अवस्था का त्याग कर तथा घट रूप दशा को प्राप्त करते हुए भी मिट्टीपने को स्थिर रखा है, यही परिणामीपने का अर्थ है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो प्रागभाव में घट के जल भरने रूप कार्य का अभाव था, वह उत्तर दशा में भी रहना चाहिए।

असमर्थ रूप दूसरे पक्ष में दोष ह्र

स्वमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत् ।।६५।।

सूत्रार्थ ह्र स्वयं असमर्थ पदार्थ कार्य का करनेवाला नहीं हो सकता। जैसे कि वह सहकारी कारणों से रहित अवस्था में अपना कार्य करने के लिए असमर्थ था, उसीप्रकार सहकारी कारणों के मिल जाने पर भी अपना कार्य करने में असमर्थ रहेगा।

प्रमाण का फलाभास ह्र

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।।६६।।

सूत्रार्थ ह्र प्रमाण से उसके फल को सर्वथा अभिन्न ही, अथवा भिन्न ही मानना फलाभास है।

फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानने से हानि ह्न

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।।६७।।

सूत्रार्थ ह्न यदि प्रमाण से उसके फल को सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो यह प्रमाण है और यह उसका फल है ह्न ऐसा भेद व्यवहार नहीं हो सकेगा। फल ही रहेगा या फिर प्रमाण, दोनों एकसाथ नहीं रह सकेंगे, जो कि उचित नहीं है।

कल्पना से प्रमाण और उसके फल का व्यवहार करने में आपत्ति ह्न

व्यावृत्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्
व्यावृत्याऽफलत्वप्रसंगात् ।।६८।।

सूत्रार्थ ह्न अफल की व्यावृत्ति से फल की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि फिर तो दूसरे समानजातिवाले फल की व्यावृत्ति से भी अफल की कल्पना माननी पड़ेगी। अतः कल्पनामात्र से फल का व्यवहार नहीं चलाया जा सकता है।

बौद्ध लोग जैसे 'अगो' की व्यावृत्ति (अर्थात् गाय नहीं होने का निषेध से गौत्व की स्थापना करते हैं) मानते हैं, उसीप्रकार वे यहाँ पर भी अफल की व्यावृत्ति से फल का व्यवहार करना चाहते हैं।

काल्पनिक फलव्यवहार के निषेध का दृष्टान्त ह्न

प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।।६९।।

सूत्रार्थ ह्न जिस तरह से अन्य प्रमाण की व्यावृत्ति से अप्रमाणपने का प्रसंग बौद्धों ने स्वीकारा है, उसीतरह फलान्तर की व्यावृत्ति से अफलत्व का भी प्रसंग आ जायेगा।

प्रमाण और फल में भेद का निर्णय ह्न

तस्माद्वास्तवो भेदः ।।७०।।

सूत्रार्थ ह्न अतः प्रमाण और उसके फल में भेद वास्तविक है।

प्रमाण व फल में सर्वथा भेद मानने में हानि ह्न

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।।७१।।

सूत्रार्थ ह्न प्रमाण व उसके फल में भेद मानने पर तो अन्य आत्मा के फल के समान यह इस प्रमाण का फल है, ऐसा व्यवहार नहीं बन सकेगा।

व्याख्या ह्न प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न माननेवाले नैयायिकों की मान्यता में दोष बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, जिस तरह से अन्य की आत्मा के प्रमाण का फल हमारी आत्मा के प्रमाण का फल नहीं हो सकता है। उसी तरह प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न मानने पर आत्मा के प्रमाण का फल इसका ही है, ऐसा कथन नहीं बन सकेगा। यदि यह कहो कि समवाय संबंध से इस प्रमाण का यह फल है, ऐसी व्यवस्था हो जायेगी तो सूत्रकार इसका निषेध करते हुए कहते हैं ह्न

समवायेऽतिप्रसंगः ।।७२।।

सूत्रार्थ ह्न समवाय संबंध के मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है।

व्याख्या ह्न बौद्धों के यहाँ समवाय को नित्य, एक और व्यापक पदार्थ माना गया है, तो ऐसी परिस्थिति में यह किस तरह से निर्णय होगा कि इसी आत्मा में यह प्रमाण और उसका फल समवाय सम्बन्ध से रहता है। दूसरी आत्मा में नहीं रहता है।

शास्त्रार्थ के समय स्व–परपक्ष के साधन और दूषण की व्यवस्था ह्न

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृत दोषौ
वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।।७३।।

सूत्रार्थ ह्न वादी के द्वारा प्ररूपित किये प्रमाण और प्रमाणाभास, प्रतिवादी के द्वारा दोषरूप से प्रगट किये जाने पर वादी से परिहृत दोष वाले अर्थात् वह उन दोषों का परिहार कर देता है तो वे वादी के लिए साधन और दोषों का परिहार नहीं कर पाता है तो साधनाभास है, और प्रतिवादी के लिए यही क्रमशः दूषण और भूषण है।

व्याख्या ह्न शास्त्रार्थ के समय जो पहिले अपने पक्ष को स्थापित करता है, वह वादी कहलाता है और जो उसका प्रतिवाद करता है, वह प्रतिवादी कहलाता है। शास्त्रार्थ के काल में जो अपने पक्ष पर आये हुए दोषों का निराकरण करके अपने पक्ष को सिद्ध कर देता है, उसकी जय होती है और जो ऐसा नहीं कर पाता उसकी पराजय होती है। यही प्रमाण और प्रमाणाभास के जानने का फल है।

नयादि तत्त्वों के स्वरूप के निर्णय का उपाय ह्न

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ।।७४।।

सूत्रार्थ ह्न वस्तु तत्त्व की सिद्धि के लिए सम्भव अन्य नय-निक्षेपादि भी विचारणीय हैं अर्थात् उनका भी ज्ञान करना चाहिए।

व्याख्या ह्न वस्तु तत्त्व के अधिगम अर्थात् जानने के उपाय के रूप में तत्त्वार्थसूत्र महाग्रंथ में प्रमाण नय व निक्षेपादि की चर्चा आती है। यहाँ उस ग्रन्थ में तो मात्र प्रमाण का ही विस्तार से वर्णन है, अतः ग्रन्थकार स्वयं संकेत कर रहे हैं कि अन्य नय-निक्षेपादि का स्वरूप भी जानना आवश्यक है।

।। इति षष्ठ परिच्छेद ।।

अन्तिम प्रशस्ति ह्न

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयो: ।
संविदे मादृशो बाल: परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ।।

अर्थ ह्न हेय और उपादेय तत्त्व के ज्ञान के लिए आदर्श (दर्पण) के समान इस परीक्षामुख ग्रन्थ को मेरे जैसे बालक ने परीक्षा दक्ष के समान रचना की है।

।। इति सम्पूर्णो ग्रन्थ: ।।

परीक्षामुखसूत्रसूची

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्यय: ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयस: ।।

अथ प्रथम परिच्छेद

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।
२. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।
३. तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्।
४. अनिश्चितोऽपूर्वार्थ:।
५. दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्।
६. स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसाय:।
७. अर्थस्येव तदुन्मुखतया।
८. घटमहमात्मना वेद्मि।
९. कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीते:।
१०. शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्।
११. को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्।
१२. तत्प्रामाण्यं स्वत: परश्च।

अथ द्वितीय: परिच्छेद:

१. तद् द्वेधा।
२. प्रत्यक्षेतरभेदात्।
३. विशदं प्रत्यक्षम्।
४. प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।
५. इन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तं देशत: सांव्यवहारिकम्।
६. नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्।
७. तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च।
८. अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत्।
९. स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।
१०. कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचार:।
११. सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियन्द्रियमशेषतो मुख्यम्।
१२. सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबंधसम्भवात्।

अथ तृतीय: परिच्छेद:

१. परोक्षमितरत्।
२. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।
३. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति:।
४. स देवदत्तो यथा।
५. दर्शन-स्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि।
६. यथा स एवायं देवदत्त: गोसदृशो गवय: गोविलक्षणो महिष:, इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि।
७. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह:।
८. इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव।
९. यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।
१०. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।
११. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु:।
१२. सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव:।
१३. सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव:।
१४. पूर्वोत्तरचारिणो: कार्यकारणयोश्च क्रमभाव:।
१५. तर्कात्तन्निर्णय:।
१६. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।
१७. संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्।
१८. अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयो: साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्।
१९. न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिन:।
२०. प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव।
२१. साध्यं धर्म: क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी।
२२. पक्ष इति यावत्।
२३. प्रसिद्धो धर्मी।
२४. विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये।
२५. अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणमिति।
२६. प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता।
२७. अग्निमानयं देश: परिणामी शब्द: इति यथा।
२८. व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव।

२९. अन्यथा तदघटनात्।
३०. साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्।
३१. साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत्।
३२. को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति।
३३. एतद्द्वयमेवानुमाङ्गं नोदाहरणम्।
३४. न हि तत्साध्यप्रतित्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात्।
३५. तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकप्रमाणबलादेव तत्सिद्धे:।
३६. व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात्।
३७. नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृते:।
३८. तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति।
३९. कुतोऽन्यथोपनयनिगमने।
४०. न च ते तदंगे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात्।
४१. समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात्।
४२. बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात्।
४३. दृष्टान्तो द्वेधा अन्वय-व्यतिरेकभेदात्।
४४. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्यदृष्टान्त:।
४५. साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्त:।
४६. हेतोरुपसंहार उपनय:।
४७. प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।
४८. तदनुमानं द्वेधा।
४९. स्वार्थपरार्थभेदात्।
५०. स्वार्थमुक्तलक्षणम्।
५१. परार्थं तु तदर्थ परामर्शिवचनाज्जातम्।
५२. तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।
५३. स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्।
५४. उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च।
५५. अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढ़ा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्।
५६. रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किंचित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।
५७. न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धे:।

५८. भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्।
५९. तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्।
६०. सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च।
६१. परिणामी शब्द:, कृतकत्वात्। य एवं स एवं दृष्टो यथा घट:। कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामीति। यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धय:। कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी।
६२. अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादे:।
६३. अस्त्यत्रछाया छत्रात्।
६४. उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात्।
६५. उद्भाद्भरणि: प्राक्तत एव।
६६. अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात्।
६७. विरुद्धतदुपलब्धि: प्रतिषेधे तथा।
६८. नास्त्यत्र शीतस्पर्श: औष्ण्यात्।
६९. नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्।
७०. नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात्।
७१. नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्।
७२. नोदगादभरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात्।
७३. नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात्।
७४. अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुप लम्भभेदात्।
७५. नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धे:।
७६. नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे:।
७७. नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धे:।
७८. नास्त्यत्र धूमोऽनग्ने:।
७९. न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृतिकोदयानुपलब्धे:।
८०. नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्ताप्राक्तत एव।
८१. नास्त्यत्र मुन्नामो नामानुपलब्धे:।
८२. विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा ह्व विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात्।
८३. यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धे:।
८४. अस्त्यत्र देहिनि दु:खमिष्टसंयोगाभावात्।
८५. अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः
८६. परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्।

८७. अभूदत्र चक्रे शिवक: स्थासात्।
८८. कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ।
८९. नास्त्यत्र गुहायां मृगब्दोडनं मृगारिसंशब्दनात्। कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा।
९०. व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।
९१. अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्वान्यथानुपपत्तेर्वा।
९२. हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवाधर्यते।
९३. तावता च साध्यसिद्धि:।
९४. तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्त:।
९५. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम:।
९६. सहजयोग्यतासंकेतावशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतव:।
९७. यथामेर्वादय: सन्ति।

अथ चतुर्थ: परिच्छेद:

१. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय:।
२. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति–स्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपत्तेश्च।
३. सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्।
४. सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।
५. परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।
६. विशेषश्च।
७. पर्यायव्यतिरेकभेदात्।
८. एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविन: परिणामा: पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।
९. अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।

अथ पंचम: परिच्छेद:

१. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।
२. प्रमाणादभिन्नं च।
३. वः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः।

अथ षष्ठ: परिच्छेद:

१. ततोऽन्यत्तदाभासम्।
२. अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादय: प्रमाणाभासा:।

३. स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्।
४. पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत्।
५. चक्षुरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च।
६. अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद्वह्विविज्ञानवत्।
७. वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत्।
८. अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।
९. सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम्।
१०. असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्।
११. इदमनुमानाभासम्।
१२. तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः।
१३. अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः।
१४. सिद्धः श्रावणः शब्दः।
१५. बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।
१६. तत्रप्रत्यक्षबाधितो यथा ह्न अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।
१७. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्।
१८. प्रेत्यासुखदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।
१९. शुचि नरशिरः कपालं, प्राण्यंगत्वाच्छंखशुक्तिवत्।
२०. माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्।
२१. हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराः।
२२. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः।
२३. अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्।
२४. स्वरूपेणासत्त्वात्।
२५. अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्।
२६. तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात्।
२७. सांख्यम्प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात्।
२८. तेनाज्ञातत्वात्।
२९. विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणमी शब्दः कृतकत्वात्।
३०. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।
३१. निश्चितविपक्षवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्।
३२. आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्।
३३. शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्।
३४. सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्।

३५. सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः।
३६. सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्।
३७. किंचिदकरणात्।
३८. यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किंचित्कर्तुमशक्यत्वात्।
३९. लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।
४०. दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः।
४१. अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुख परमाणु घटवत्।
४२. विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम्।
४३. विद्युदादिनाऽतिप्रसंगात्।
४४. व्यतिरेकऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत्।
४५. विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम्।
४६. बालप्रयोगाभासः पंचावयवेषु कियद्धीनता।
४७. अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्वाद्यदित्थं तदित्थं यथा महानसः।
४८. धूमवांश्चायमिति वा।
४९. तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम्।
५०. स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात्।
५१. रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।
५२. यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति, धावध्वं माणवकाः।
५३. अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च।
५४. विसंवादात्।
५५. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम्।
५६. लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात्।
५७. सौगतसांख्ययौगप्रभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्या-भावैरेकैकाधिकैः व्याप्तिवत्।
५८. अनुमानादेरेतद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम्।
५९. तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्।
६०. प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्।
६१. विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतंत्रम्।
६२. तथाऽप्रतिभासात्कार्याकरणाच्च।
६३. समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्।
६४. परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात्।
६५. स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत्।

६६. फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा।
६७. अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।
६८. व्यावृत्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्याऽफलत्वप्रसंगात्।
६९. प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वमस्य।
७०. तस्माद्वास्तवो भेदः।
७१. भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।
७२. समवायेऽतिप्रसंगः।
७३. प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधन तदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च।
७४. सम्भवदन्यद्विचारणीयम्।

परीक्षायां प्रष्टव्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नाः

१. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणम्। इति सूत्र विषये किं हितं किंचादितं युक्तिपूर्वकं विवेचयत्।
२. तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति। अस्मिनसूत्रे किं स्वतः किंच परतः, सुस्पष्टं कुरुत।
३. सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबंधसम्भवात्। इति सूत्रस्य विवेचनं सोदाहरणं कुरुत।
४. प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपं सोदाहरणं ग्रन्थानुसारं कुरुत।
५. साध्यस्य स्वरूपं सोदाहरणं सविस्तारं कुरुत।
६. कतिविधा विरुद्धानुपलब्धिः ? दृष्टान्तपूर्वकं लिखत।
७. प्रमाणाभासानुदाहृत्य पंचावयवस्य स्वरूपं लिखत।
८. ग्रन्थानुसारः आगमस्य किं स्वरूप वर्तते।
९. प्रमाणस्य विषय एवं च फल विषये किं जानन्ति भवन्तः विशदतया विवेचनीयम्।
१०. स्मृतेः स्वरूपभिधाय गोसदृशो गवय इति ज्ञानं कुत्रान्तर्भवतीति निरुप्यताम्।
११. प्रत्यक्षलक्षणं विलिख्य अर्थालोकयोः कारणत्वं निराकुरुत।
१२. माणिक्यनन्दिनः विषये भवन्तः किं जानन्ति ?